

नानेशवाणी भाग - 4

आत्म-साक्षात्कार

(आत्म-समीक्षण भाग-3)

आचार्य श्री नानेश



राम चमक रहे भानु समाना

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

नानेशवाणी भाग - 4

आत्म-साक्षात्कार (आत्म-समीक्षण भाग-3)

आचार्य श्री नानेश

प्रथम संस्करण : दिसम्बर 2001, 1100 प्रतियां

द्वितीय संस्करण : जुलाई 2005, 1100 प्रतियां

तृतीय संस्करण : सितम्बर 2010, 1100 प्रतियां

चतुर्थ संस्करण : मई 2019, 1500 प्रतियां

मूल्य : 80/-

प्रकाशक :

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग,

श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड,

गंगाशहर-बीकानेर - 334401 (राज.) दूरभाष : 0151-2270261

visit us : www.shriabsjainsangh.com

e-mail : absjsbkn@yahoo.co.in

मुद्रक :

तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर

दूरभाष 9314962474/75

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युगपुरुष समता विभूति आचार्यश्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में से एक रहे जिन्होंने अपने कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखायी जिस पर चलकर भव्य आत्माएँ अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष पथ की अधिकारिणी बन सकती हैं। यद्यपि आचार्यश्री नानेश के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है लेकिन उनके द्वारा रचित साहित्य के रूप में हमारे पास एक बहुत बड़ी निधि उपलब्ध है। निश्चित ही आचार्यश्री नानेश ने अपने विचारों से सम्पूर्ण समाज में जन चेतना की जो रश्मियाँ प्रवाहित की हैं वे युगों-युगों तक जनमानस का पथ प्रदर्शित करती रहेंगी।

आचार्यश्री नानेश का यह दिव्य साहित्य जन-जन तक पहुँचे एवं सर्व सुलभ हो इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने इन अनमोल साहित्यिक धरोहर को नानेशवाणी पुस्तक श्रृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय लिया। आज उन्हीं सुप्रयासों का सुफल है कि नानेशवाणी भाग 1 से 51 तक प्रकाशित हो सकी है।

समय परिवर्तन के साथ संघ ने नानेशवाणी के प्रकाशन को नवीन स्वरूप देने का निर्णय लिया। उसी के अनुरूप उपरोक्त पुस्तक को पूर्व की अपेक्षा और अधिक श्रेष्ठ स्वरूप देने का प्रयास किया गया है ताकि इस पुस्तक की महत्ता के साथ आवरण सज्जा में और अधिक निखार आ सके। इसी क्रम में नानेशवाणी भाग- 4 'आत्म-साक्षात्कार' का चतुर्थ संस्करण आपके हाथों में है।

मैं संघ एवं अपनी ओर से इस पुस्तक के प्रकाशन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोगी बने समस्त आत्मीयजनों का आभार प्रकट किये बिना नहीं रह सकता जिनके सहयोग से ही यह भागीरथी कार्य सम्पन्न हो सका। सम्पादन में आचार्य-प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है। अज्ञानवश यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उनके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

संयोजक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अहोभाव

संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'आत्म-साक्षात्कार' नानेशवाणी भाग - 4 के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी

सुन्दरलाल, विनोदकुमार दुग्गड़

देशनोक (राज.)/कोलकाता

अनुक्रम

अध्याय आठ : आत्म-समीक्षा के नव सूत्र

7-77

सूत्र सात-9, आत्म-शक्ति के उद्बैधन-12, प्रताप और शक्ति की दिशा-15, तप और उसकी ऊर्जा शक्ति-17, देह-शुद्धि से आत्म-शुद्धि तक-20, आहार-त्याग रूप अनशन-27, अल्पता बैधक तपस्या-30, भिक्षाचर्या वृत्ति-संकेंच-32, मात्र जीने के लिए खाना-36, देह-मैह से दूर-39, तप जितेन्द्रियता का-40, प्रायश्चित्त से पाप शुद्धि-43, विनयः धर्म का मूल-48, सेवा की तन्मयता-54, आत्म-चिन्तन का अध्याय-56, उच्चता ध्यान-साधना की-63, समत्व के शिखर पर-71, तपस्या का आ इ ई-73, तपैपूत आत्म-शक्ति-75, सातवाँ सूत्र और मेरा संकल्प-77

अध्याय नौ : आत्म-समीक्षा के नव सूत्र

79-126

सूत्र आठवाँ-81, मैक्ष का राजमार्ग-85, रत्नत्रय की साधना-89, संसार से मैक्ष कितनी दूर ? - 101, आत्मा के गुण विकास की अवस्थाएँ-103, गुणस्थानों का द्वारों से विचार-104, समत्व यैंग की अवाप्ति-113, संसार के समस्त जीवों का परिवार-120, भीतर प्रकाश, बाहर प्रकाश-122, अमिट शान्ति और अक्षयसुख-123, आठवाँ सूत्र और मेरा संकल्प-125

अध्याय दस : आत्म-समीक्षा के नव सूत्र

127-181

सूत्र नवम-129, मैं आत्म-स्वरूपी हूँ-131, मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूँ ! -142, मैं ज्ञान साधक उपाध्याय हूँ-156, मैं अनुशासक आचार्य हूँ-159, मैं वीतरागी अरिहंत हूँ-166, मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हूँ-168, मैं अनश्वर अँऽम् हूँ-173, सदसद् संग्राम-177, अन्तिम विजय मेरी होगी-179, नवम सूत्र और मेरा संकल्प-181

अध्याय ग्यारह : आत्म-समीक्षा के नव सूत्र

183-248

अध्याय ग्यारह-185, जीवन का उद्भव और संचरण-187, जीवन विकास का गतिक्रम-190, यह जीवन क्या है ?-194, समता का मूल्यांकन-197, विषमता का मूल व विस्तार-201, अधिक जड़ग्रस्तता : अधिक विषमता-206, समता की दृष्टियाँ-208, समता का दार्शनिक स्वरूप-212, समता का व्यवहार्य पक्ष-231, समताचरण की तीन चरण-240, समता-समाज की वैचारिक रूपरेखा-245, समता की जय यात्रा-247

अध्याय आठ
आत्म समीक्षण के नव सूत्र
सूत्र : 7 :

मैं मौलिक रूप से परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ ! मुझे सोचना है कि मैं अपने बंधनों को कैसे तोड़ सकता हूँ ? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है?

अपनी अपार शक्ति के समीक्षण ध्यान में मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मैं अपने कर्मों के सारे बंधन कठिन तप की आराधना से कैसे तोड़ सकता हूँ और मुक्ति के मार्ग पर कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ ?

मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूँगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा उस मौलिक परम प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान स्वरूप को अनावृत करूँगा।

सूत्र सात

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ। मेरा परम प्रताप और शक्ति—केन्द्र वस्तुतः परमात्मा के समान ही है, क्योंकि यह सिद्धान्त सर्वसत्य है कि आत्मा ही परम पद प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप वरण कर लेती है। परमात्मा कोई पृथक् शक्ति—केन्द्र नहीं होता, वह आत्मा का ही परम विकसित स्वरूप होता है।

मैं परम प्रतापी हूँ। मेरा ताप और प्रताप अनन्त है, क्योंकि वह तप से उद्भूत होता है और तप की परमोत्कृष्टता से अपार तेजस्विता ग्रहण करता है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण अग्नि में तपकर शुद्ध नहीं बनता, अपितु अति मूल्यवान कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी तप रूपी अग्नि में तपकर शुद्ध और निर्मल ही नहीं बनती, अपितु परम प्रतापी भी बन जाती है।

मैं परम प्रतापी होता हूँ, तो सर्व शक्तिमान भी बन जाता हूँ, क्योंकि उस परम प्रताप से अनन्त शक्तियों एवं ऊर्जाओं का स्रोत प्रस्फुटित होता है। सर्व—शक्तियों का प्रकाश उसके स्वरूप को परम प्रकाशित बना देता है। इतना ही नहीं, एक सत्य और भी प्रकट होता है। वह यह कि आत्मा स्वयं ही सर्वशक्तिमान और प्रकाशपुंज नहीं बनती, बल्कि शक्तियों का केन्द्र तथा प्रकाश का प्रसार स्रोत भी बन जाती है।

मैं सर्व शक्तिमान हूँ, सर्व शक्तियों का केन्द्र हूँ और प्रकाश का प्रसारक भी हूँ। जैसे एक पॉवर हाऊस होता है, जो स्वयं प्रकाशित होने के साथ-साथ प्रकाश को सर्वत्र प्रकाशित भी करता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा स्वयं प्रकाशित होकर उस प्रकाश शक्ति को विकीरित—प्रसरित भी करने लग जाती है। वह प्रकाश पाती है और सबमें प्रकाश भरती

है—स्वयं सर्वशक्तिमान बनती है तथा सर्वत्र शक्तियों का संचार करती है। जो कोई अन्य आत्मा परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान आत्मा के साथ लौ लगती है, वह भी प्रकाशित बनती है—शक्तिशाली होती है।

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ। यह परम प्रताप और शक्ति—सम्पन्नता मुझे मेरी शुभता के चरम विकास से मिलती है। विषय—कषाय के विकार जब तप रूपी अग्नि में जल जाते हैं और उसके ताप से आत्मस्वरूप निखर उठता है, तब यह परम प्रताप प्रकट होता है—एकदम निर्मल, शान्त और सबको सुख देनेवाला। यह परम प्रताप ही सर्व शक्तियों का केन्द्र—स्थल हो जाता है, जहाँ से सम्पूर्ण जीवों का हित तथा विश्व का कल्याण प्रस्फटित होता है। आत्मा परमात्मा बन जाती है।

मैं वही आत्मा हूँ— भव्य आत्मा, जो परमात्मा बन सकती है। परम प्रतापी और सर्व शक्तिमान होने का मूल गुण मेरी आत्मा में भी निवास करता है और मेरे पुरुषार्थ से आज आवृत यह मूल गुण एक दिन सम्पूर्णतः अनावृत हो सकता है। आवश्यक है कि मैं वैसा पुरुषार्थ करूँ, कठिन तप से आत्म—स्वरूप के साथ बंधे आठों कर्मों को व शरीर के सात धातुओं को गला दूँ तथा अपने जीवन को स्व—पर कल्याण में विसर्जित कर दूँ।

मैं परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान बनना चाहता हूँ—आत्मा की शुभ शक्तियों का धनी, किन्तु वैसा परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान नहीं, जैसा कि एक राजा ने अपनी भौतिक शक्तियों के गर्व से उन्मत्त होकर अपने को परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान मान लिया था। कथा है कि एक राजा था—योद्धा और शूरवीर। उसने अपने प्राप्त राज्य को ही सुदृढ़ नहीं बनाया, बल्कि विश्व—विजयी बनने का संकल्प लिया। सौभाग्यशाली था, सो आस—पास के राज्यों को जीतता हुआ आगे से आगे बढ़ता गया तथा अनेक राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकृत कराता गया। उसकी विजय का डंका चारों ओर बजने लगा— वह महाराजधिराज हो गया। उसने अपने आपको परम प्रतापी तथा सर्व—शक्तिमान घोषित कर दिया। उस समय एक भी राजा ऐसा नहीं बचा था, जो उसकी इस घोषणा को चुनौती देता। उसकी सर्वशक्ति एक

प्रकार से स्थापित हो गयी। वह अभिमान में फूला नहीं समाता था।

एक महात्मा को लगा कि इस राजा के विजयाभिमान को तोड़ना चाहिए। वे महात्मा वैक्रिय लब्धि के धारक थे तथा छोटे-बड़े रूप बना सकते थे। एक दिन वे उस राजा के दरबार में पहुँच गये। राजा ने उनका स्वागत किया, किन्तु गर्वभरी मुस्कान के साथ। महात्मा को वह व्यवहार अखर गया, फिर भी कुछ बोले नहीं। वे यह सब कुछ जानकर ही तो आये थे और एक वैद्य की तरह राजा के मान रूपी रोग की चिकित्सा करना चाहते थे। अनजान से बनकर कहने लगे—राजन! मैंने सुना है कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान हो? राजा ने जोर का ठहाका लगाया और कहा—अरे महात्मा! तुमने सिर्फ सुना ही है, अब देखकर भी अनुमान नहीं लगा पा रहे हो क्या? महात्मा राजा की आँखों में आँखें डालकर देखते ही रहे। उनकी इस हरकत से राजा असमंजस में पड़ गया, बोला—इस तरह क्या देख रहे हो, महात्मा? महात्मा बोले—तुमने ही तो कहा है— राजा की ओर देखो और मैं देख रहा हूँ।

राजा धीरज नहीं रख सका, पूछने लगा— अब तो देख लिया न महात्मा और मिल गया न आपके प्रश्न का उत्तर आपको? महात्मा ने 'हाँ' में सिर हिलाया, लेकिन फिर 'ना' में भी सिर हिलाया। अब तो राजा चौंका कि महात्मा आखिर कहना क्या चाहता है? पूछ बैठा—आप का यह सिर हिलाना मुझे समझ में नहीं आया। तब गम्भीर वाणी में महात्मा बोले— राजन! मैंने सुना था कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान हो, किन्तु आज देखने पर विपरीत अनुभव हो रहा है। राजा गरजा— आप कहना क्या चाहते हैं? महात्मा कहने लगे— यही कि न तुम परम प्रतापी हो और न सर्व शक्तिमान! अपने आपको ऐसा समझने का तुम्हें मात्र दंभ है। क्रोध से फुफकार उठा राजा—मेरे सामने इस तरह बोल लेना आसान नहीं—इसे सिद्ध करो। वरना यह झूठी जीभ काटकर फैंक दी जायेगी। अब महात्मा की हँसने की बारी थी, जोर से अट्टहास करके हँस पड़े और बोले— राजा! तुम सर्वशक्तिमान हो, मुझे कुछ देने की शक्ति भी रखते हो? राजा ने ओछेपन से कहा—मैं तो तुम्हें महात्मा समझा था, मात्र भिक्षुक ही निकले। जो कुछ माँगोगे मिलेगा, किन्तु जीभ जरूर कटेगी। महात्मा फिर हँस पड़े, बोले—मुझे

मात्र तीन पग भूमि चाहिए। राजा भी हँस पड़ा, कहने लगा— बस, माँगने में भी कृपणता, मैं तीन पग भूमि क्या तीन सौ गाँव दे सकता हूँ। राजा का इतना कहता था कि महात्मा ने विराट रूप धारण किया और एक पग राजा के सम्पूर्ण राज्य के किनारे पर, तो दूसरा पग राज्य के दूसरे किनारे पर रखकर पूछा— राजा! अब बताओ, तीसरा पग कहाँ रखूँ? राजा तो भौंचक्का खड़ा रहा। न बोलते बनता था और न हँसते। लज्जा से उसका सिर झुक गया।

भावाभिभूत होकर राजा महात्मा के चरणों में झुक आया, पश्चाताप भरे स्वर में कहने लगा—महात्मन! आपने मेरा गर्व खर्च कर दिया है, मेरा उन्माद उतर गया है और परम प्रतापी व सर्व शक्तिमान होने का मेरा भ्रम भी मिट गया है। महात्मा पुनः अपने रूप में आ गये और स्नेह—भरी मुस्कान के साथ बोले—राजन! तुम्हें शिक्षा देने के लिए ही मैंने यह सब किया, तुम बुरा न मानना। सदा यह ध्यान में रखना कि इस संसार की सभी बाहरी शक्तियाँ किसी को प्राप्त हो जायें, तब भी वह सर्वशक्तिमान नहीं बनता। यथार्थ में सर्वशक्तिमान बनना आत्म—शक्तियों का ही रहस्य होता है। जिसका बाहरी वैभव नहीं, आन्तरिक वैभव समुन्नत हो जाता है और जो दया का सागर बन जाता है, वही अपनी पूर्ण विकसित आत्मा के साथ परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान होता है। यह परम अवस्था बाहर की विजय से नहीं भीतर की विजय से प्राप्त होती है।

आत्म—शक्ति को उद्बोधन

मुझे जब अपनी आत्मशक्ति के ही इस विराट् रूप का परिचय होता है तो मैं एक अनूठे ही आन्तरिक आनन्द से भर उठता हूँ। मैं वास्तव में इतना शक्ति सम्पन्न हूँ और परमात्मपद का वरण कर सकता हूँ, तब इतना निराश और हताश क्यों हूँ। आशा तभी टूटती है, जब किसी कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता टूट जाती है। सक्षम होकर भी मैं निराश हो गया—यह मेरा निरा अज्ञान ही है। मैं अपने ही अज्ञान के इस पर्दे को फाड़ देना चाहता हूँ और अपनी सोयी हुई आत्मा को झकझोर कर जगा देना चाहता हूँ। यह मैं कौन? मैं ही मेरी आत्मा हूँ—दोनों में द्वैत नहीं है। आत्मा ही आत्मा को जगाती है और आत्मा

ही आत्मा को उद्बोधन करती है। मैं जागता हूँ, उसका अर्थ ही यह होता है कि मेरी आत्मा जागती है और उस जागृति के फलस्वरूप मैं ही अपनी आत्मशक्ति को उद्बोधन करता हूँ।

इस दृश्य की भी कल्पना की जा सकती है। समझिये कि एक छात्र गहरी नींद में सोया हुआ है। उसने प्रातः चार बजे उठने के लिए घड़ी में अलार्म दे रखा है। चार बजते ही घड़ी का अलार्म जोरों से बज उठता है—काफी देर तक बजता रहता है। छात्र की नींद खुल तो जाती है, मगर आलस्यवश उठ नहीं पाता। उस समय मन ही मन अपने को फटकारता भी है कि तुरन्त उठकर वह पढ़ने क्यों नहीं बैठता, तो दूसरी तरफ मीठी-मीठी नींद से छुटकारा ले लेने का मन नहीं होता। काफी देर तक भीतर ही भीतर कशमकश चलती रहती है। उठकर पढ़ने-बैठने पर मन मजबूत होता है, तो आलस्य को झटककर वह बिस्तर से उठ खड़ा होता है और मन का आलस्य मजबूत साबित होता है, तो वह फिर से गहरी नींद सो जाता है। उस छात्र के मन की ऐसी कशमकश को हम रोज-ब-रोज महसूस करते हैं। यही स्वयं को स्वयं जगाने की कशमकश होती है। मैं इसी रूप में अपने जागृत पक्ष को सुदृढ़ बनाकर अपनी ही आत्मा को उद्बोधन करना चाहता हूँ।

यह उद्बोधन मैं करता हूँ— अपने मन और अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके। मन और इन्द्रियाँ मीठी-मीठी नींद सोना चाहती हैं, मैं उन्हें सोने नहीं देता। मैं अपने आपको भी दुर्बलता के क्षणों में सावचेत करता हूँ और उठकर पढ़ने के लिए बैठ जाना चाहता हूँ। आत्मा की पढ़ाई बड़ी कठिन होती है, तो बड़ी सरल भी। कठिन तो इस कारण कि मैं मन तथा इन्द्रियों का निग्रह करानेवाले तप में अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ को लगा नहीं पाता हूँ, जिससे मन और इन्द्रियाँ बारबार छिटककर मेरे नियंत्रण से बाहर चली जाती हैं, तब उनको वश में करना कठिन हो जाता है। और सरल इसलिए कि यदि कठोर तप से मैं आत्म-जेता बन जाता हूँ, तो मैं स्व-नियंत्रित शक्ति का धनी बन जाता हूँ। भाव-सरणियों में समुन्नति लाते हुए विजेता बन जाना बड़ा सरल हो जाता है— जन्म-जन्मान्तरों का भगीरथ कार्य कुछ ही क्षणों में सम्पन्न हो सकता है। प्रश्न यही है कि आत्मा को उद्बोधन कितनी उच्च और उत्कृष्ट भावना के साथ किया जाता है?

कपिल ब्राह्मण का रूपक मुझे याद आता है। अपने दारिद्र्य से परम कष्टित होकर वह भूल से मध्यरात्रि में ही घर से निकल पड़ा कि राजा को प्रथम आशीर्वाद देकर वह एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त कर ले। प्रहरियों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और सुबह राजा के सामने प्रस्तुत किया। कपिल ने सच्ची-सच्ची बात बता दी। राजा खुश हो गया और बोला—जो चाहो, सो मुझसे माँग लो। यकायक कपिल को कुछ नहीं सूझा, तो सोचने का समय माँगकर पास के उद्यान में जाकर बैठ गया। तब कपिल सोचने लगा कि राजा से क्या माँगूँ? एक से एक हजार स्वर्ण मुद्रा तक बढ़ा, फिर भी सोचा कि निर्वाह में यह राशि भी एक दिन समाप्त हो जायेगी और फिर वही दारिद्र्य भोगना पड़ेगा, तो फिर उसका पूरा राज्य ही क्यों न माँग लूँ?

इस बिन्दु पर पहुँचते ही उसकी आत्मा को एक झटका लगा और विचार—धारा एकदम परिवर्तित हो गयी। कपिल सोचने लगा—मुझसा अधम और कौन होगा, जो अपने ही सहायक को दर—दर का भिखारी बना देने की बात सोच बैठा? धिक्कार है मुझे...और उसकी वह धिक्कार इतनी गहरी होती गयी, भाव—सरणि उत्कृष्ट से उत्कृष्टतम बन गयी तथा आत्म—शक्तियाँ सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर परम जागृत हो गयीं कि कपिल ब्राह्मण चन्द्र क्षणों में ही कपिल केवली (कैवल्यज्ञान प्राप्त) बन गया— जन्म—जन्मान्तरों का विकास पलों में सध गया। यह अपेक्षिक कथन है— आत्मोद्बोधन कभी—कभी इतना मार्मिक होता है, तत्क्षण सफलता भी प्राप्त कर लेता है। अतः मैं आत्मा को उद्बोधित करते समय अपनी भाव—गूढ़ता पर अधिक ध्यान देना चाहता हूँ। आन्तरिकता जितनी निष्पाप और निश्छल बन जाती है, आत्मा का उद्बोधन भी उतना ही प्रभावशाली हो जाता है। ऐसा भव्य उद्बोधन भी इतना महान तप रूप हो जाता है कि भावोद्वेग ही सम्पूर्ण कर्म संचय को विनष्ट कर देता है। भाव—श्रेणी की अत्युच्चता आत्मा को निष्कलुष बनाकर अल्पावधि में ही परम प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान के पद पर प्रतिष्ठित कर देती है।

मैं अपनी आत्मा को उद्बोधन करता हूँ— मैं मुझको ही जगाता हूँ और चिन्तनशील बनाता हूँ कि मैं अपनी आत्मा के यानि अपने बंधनों को कैसे तोड़ सकता हूँ तथा कैसे अपनी मुक्ति के मार्ग को खोज

सकता हूँ? मैं अपने वर्तमान आत्म—स्वरूप का दृष्टा बनकर जब उसे निहारता हूँ, तो अपने को—अपनी आत्मा को धिक्कारता हूँ कि कैसा मेरा मूल स्वरूप है, परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान होने का और वर्तमान में वह कितना प्रताप—शून्य एवं अशक्त बना हुआ है? मैं अपने आपको बारबार धिक्कारता हूँ। अपने विद्रूप पर और संकल्पित होता हूँ कि मैं अपनी आत्मा को उद्बोधन करूँगा, अपनी अपार शक्ति को समीक्षण ध्यान में लूँगा तथा आत्म—साक्षात्कार द्वारा साध्य की ओर त्वरित प्रगति के चरण बढ़ा चलूँगा।

प्रताप और शक्ति की दिशा

मैं अपने आत्मस्वरूप के प्रताप तथा उसकी शक्ति की सही दिशा को पहले समझ लूँ—यह अति आवश्यक है। मैं सक्रिय बनूँ और मेरी दिशा ही अगर गलत हो, तो मेरी क्रियाशीलता ही गलत हो जायेगी। अतः मुझे सांसारिक प्रताप—प्रभाव एवं भौतिक शक्तियों के अंतर को भलीभाँति आँकना होगा। इस अंतर—अंकन में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सांसारिकता में प्रवृत्ति नहीं, बल्कि उससे निवृत्ति लेने पर ही आत्मिक प्रभाव का उद्भव होता है तथा आंतरिक शक्तियाँ प्रकट होती हैं। सांसारिकता से निवृत्ति एवं आध्यात्मिकता में प्रवृत्ति—इस दृष्टि से यह मेरा प्रथम चरण होना चाहिए।

सांसारिकता से निवृत्ति का मुझे यह स्पष्ट अर्थ मानना चाहिए कि मेरा पुरुषार्थ संसार के सुख पाने या उनके माध्यम से कीर्ति अर्जन की दिशा में नहीं लगे। मेरा पुरुषार्थ स्व—पर कल्याण की दिशा में लगे जो आत्म चिंतन, आत्म नियंत्रण, आत्म—विकास तथा आत्मविसर्जन की श्रेणियों में समुन्नत होता हुआ सफलता को प्राप्त करता है।

इस तरह मैं अपने पुरुषार्थ नियोजन की सही दिशा का निर्धारण कर लेता हूँ और इस निर्धारण का मूल ही आत्म चिंतन में समाहित होता है। आत्म चिंतन ही मुझे आत्म नियंत्रण की दिशा में ले जाता है। आत्म—नियंत्रण से ही मैं जान पाता हूँ कि जब मैं अपने मन और अपनी इन्द्रियों को गाढ़ी सांसारिकता से खींचकर अपने नियंत्रण में कर लेता हूँ, तब मुझे ऐसे आनंद का अनुभव होता है, जिसका रसास्वादन मैं पहले नहीं कर पाया था। यह मेरा आत्मनियंत्रण क्रमिक

अभ्यास के द्वारा पक्का आत्मानुशासन बन जाता है। इस आत्मानुशासन को सुव्यस्थित एवं सुस्थिर कर लेने के बाद मुझे अनुभूति होती है कि मेरे आत्मस्वरूप के विकास के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। आत्म-विकास की प्रक्रिया में मैं जो कुछ सोचता हूँ, जो कुछ बोलता हूँ और जो कुछ करता हूँ—वह मेरे लिए अति आनंददायक बन जाता है। दृष्टा रूप में तब मैं देखता हूँ कि वास्तविकता में मुझे संसार के विषय-भोगों में अभिरुचि नहीं रही है और न ही सत्ता व सम्पत्ति की उपलब्धि में आनंद की अनुभूति होती है। इसके विपरीत जितना मैं सत्कार्यों में प्रवृत्ति करता हूँ तथा जितना मैं उस क्षेत्र में अधिकाधिक त्याग करता हूँ, मेरी आंतरिकता खिल उठती है। मुझे संसार के समस्त प्राणी अपने महसूस होते हैं और भावना प्रबल बनती है कि मैं उन सबको जो कुछ मेरे पास है—दूँ, उनसे लेने की इच्छा भी नहीं रखूँ। और दूँ भी वह, जो मेरे लिए अमूल्य है। उन पर अपने हृदय का समस्त स्नेह उडेलूँ, अपनी करुणा बरसाऊँ और उनके सुख में ही अपना सुख मानूँ। इस भावना श्रेणी में मुझे अपने भीतर अधिक निर्मलता, अधिक त्यागवृत्ति और अधिक आनंद की अनुभूति होती है। तब यही समझ में आता है कि मैं अधिक विनम्र हुआ हूँ, अधिक सहृदय और अधिक सक्रिय। तभी मेरी आत्मा की तेजस्विता एवं शक्ति-सम्पन्नता प्रखर बनती है। यही परम प्रतापी एवं सर्व शक्तिमान बनने की सही दिशा भी लगती है।

तब मैं समझ जाता हूँ कि तप से ताप उत्पन्न होता है और ताप से प्रताप तथा प्रताप शक्तियों का केन्द्र बन जाता है। तप की करणीयता और आचरणीयता तब मुझे सर्वोच्च दिखायी देती है। मैं समझ जाता हूँ कि तप ही आत्मा को परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान बनाने का मूल, कारणभूत व करणीय आचरण हो सकता है, क्योंकि तप के ही विशुद्ध आचरण से आत्म-विकास परिपुष्ट होकर आत्मविसर्जन का परमोत्कृष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

आत्म-चिंतन की रसधारा में प्रवाहित होते हुए तब मैं निश्चय कर लेता हूँ कि मुझे तप का ही आचरण अंगीकार कर लेना चाहिए और वह आचरण निरंतर कठोर एवं प्रखर बनता रहे। मैं जानता हूँ कि मैं तप में तपूँगा, तो मेरी आत्मा तपेगी और मल रहित होकर निर्मलता का वरण करती जायेगी। कर्म बंधनों को तोड़ती हुई हलुकर्मी बनती

जायेगी। मैं तप से तपूँगा, तो मेरा शरीर तपेगा, जो कृश होता जाकर भी दिव्य ओज को अपने भीतर समाता जायेगा। मैं तप से तपूँगा, तो मेरे मन तथा मेरी इन्द्रियों की समस्त सक्रियता स्व—पर कल्याण में नियोजित हो जायेगी। तप मेरी आत्मा में परमात्मा बन जाने का सामर्थ्य जगा देगा और इस रूप में यह तप ही अपनी प्रखरता की उच्चतम साधना में मुझे सच्ची अनुभूति दे सकेगा कि मैं परम प्रतापी हूँ, सर्वशक्तिमान हूँ।

तप और उसकी ऊर्जा शक्ति

तप क्या होता है? उसकी ऊर्जा शक्ति कैसी होती है? यह सब मैं जानता हूँ। वीतराग देवों की वाणी से जिसे सुगुरु मुझे समझाते हैं। कहा गया है कि तप रूप अग्नि है। जीवात्मा अग्नि का कुण्ड है। मन, वचन और काया के शुभ व्यापार तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए घी डालने की कुड़छी के समान और यह शरीर कंडों के समान है। कर्म रूप लकड़ी है और संयम रूप साधना शान्ति—पाठ रूप है। इस प्रकार मैं ऋषियों द्वारा प्रशंसित चारित्र रूप भाव होम करता हूँ। यह होम ही तप है और उसकी ऊर्जा शक्ति है — आत्म—शक्ति।

यों तप की व्याख्या बहुत ही व्यापक होती है। आत्म—विकास एवं त्याग के उच्चस्थ स्तरों पर मन, वाणी एवं कर्म की त्रिधारा ही तपोःपूत हो जाती है, क्योंकि आत्मा और शरीर दोनों ही तप से तपकर तेज से निखर उठते हैं। तप का मूल मानें, तो वह है इच्छाओं का निरोध। आकाश के समान ये अनन्त इच्छाएँ इस संसार में आत्मा को चैन से नहीं रहने देतीं। इच्छाओं का वेग बड़ा प्रबल होता है। इस वेग को रोक लेना और इच्छाओं का निरोध कर देना अतुल्य तप माना गया है। यही कारण है कि कपिल ब्राह्मण ने इच्छाओं के वेग में भटकते हुए जब भावनापूर्वक उस वेग को ही नहीं रोका, बल्कि इच्छाओं का ही रूपान्तरण कर दिया, तो उसके उस महान तप के कारण कुछ ही पलों में वह कपिल केवली हो गया। उसने और कोई तप नहीं किया, केवल इच्छाओं का निरोध किया तथा वह इतनी सघन रीति से कि कुछ ही पलों के उच्चतम तप ने उसे मुक्तिगामी बना दिया।

इच्छाओं का निरोध—संशोधन एक क्लिष्ट और विशिष्ट तप है। मूल में आत्म—विवेक जितने अंशों में जागृत रहता है, उतने ही अंशों में तप के किसी प्रकार का अनुष्ठान कर्मक्षय का कारणभूत बनता है। कर्मों के नित्य प्रति होनेवाले आगमन को रोक लेने के बाद पूर्वसंचित कर्मों का क्षय तपाराधन से ही संभव होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि तप से तपे बिना आत्मा को मोक्ष नहीं मिल सकता। तपस्वी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को उसी तरह अपनी आत्मा से झाड़कर अलग कर देता है, जिस तरह कोई पक्षी अपने पंखों को फड़फड़ाकर उनकी धूल को झटक देता है। तप से तपा हुआ साधक अपने तप के तीर से कर्मों के कवच को भेद डालता है।

मैं जानता हूँ कि तप के ताप से जो निर्लिप्त ऊर्जा शक्ति मिलती है, वही आत्मा और देह की पृथकता को स्पष्ट करती है और प्रेरणा देती है कि इस देह को तपाराधन से कृश करते चलो, ताकि सांसारिकता का मूल नष्ट होता जाये। देह दमन के तप से ही आत्म—दमन का तप सफल होता है और निर्जरा की शक्ति पैनी बनती है। किसी भी प्रकार का तप करने से पहले विवेक का सधा हुआ रहना जरूरी है। इसी कारण मैं तपाराधन के पूर्व अपने शारीरिक एवं मानसिक बल को आँक लेता हूँ, काल—विकाल को भी परख लेता हूँ, अपने आरोग्य को भी सम्हाल लेता हूँ तथा स्थान—सुविधा की भी परीक्षा कर लेता हूँ। यह भी मैं जानता हूँ कि प्रतिष्ठा या पूजा की ऐहिक कामना के साथ तप का शुद्ध आराधन नहीं होता और जो साधु बनकर कठिन तपश्चरण करता है, लेकिन ऐहिक कामनाओं से ग्रस्त रहता है, तो उसका वह कठिन तपश्चरण भी निष्फल जाता है। वस्तुतः धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य आदि तप शान्ति तीर्थ हैं, आत्मा की शुभ लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्म स्नान कर मैं कर्म मल से मुक्त हो जाता हूँ। तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलायी देती है, किन्तु जाति (अन्य बाह्य कारण) की तो कोई विशेषता नजर में नहीं आती। तप की ही विशेषता होती है कि साधक अन्ततोगत्वा अव्याबाध सुख की अवाप्ति कर लेता है।

मैं अनुभव कर चुका हूँ कि तप में ही वर्तमान शक्ति लगाने से विविध आत्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति इस रूप

में लगानी होती है कि मैं अपने क्रोध का दमन करूँ, मान को मर्दित बनाऊँ, माया को कृश कर दूँ तथा लोभ-लाभ की लालसा छोड़ दूँ। इच्छा-निरोध से विषय एवं शक्ति-प्रयोग से कषाय का अन्त कर दूँ, तो मेरा तप सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगेगा। देह सुखाने के साथ मेरा मोह-ममत्व भी सूखेगा, तो विविध प्रकार की ग्रन्थियाँ भी सुलझ जायेंगी। मोह-विजय तप-शस्त्र से ही संभव है। अनशन आदि तपों के आचरण से मन मंगलमय बनता है, तो इन्द्रियों की शक्ति भी संयम की आराधना में लगती है। तप की यह विशेषता प्रकट हो, तभी तप को सार्थक मानना चाहिए कि इन्द्रियों तथा देह की क्षीणता के साथ आत्म-बल क्षीण न हो। आत्म बल तपाराधन से निरन्तर बढ़ता रहे-वही तप वास्तविक तप होगा।

मेरी सुनिश्चित धारणा है कि यथार्थ रीति से तप का आचरण मात्र कर्म क्षय के लिए होना चाहिए, अन्य किसी भी प्रयोजन से नहीं। और किसी भी लौकिक प्रयोजन से किये जानेवाले तप को तो वास्तव में तप कहना ही समुचित नहीं होगा। स्वर्ग, यश अथवा भोग की प्राप्ति के प्रयोजन से किया जानेवाला कठिन तप भी कभी मुक्ति का कारण नहीं बनता। अविवेक-मिथ्याज्ञान को साथ रखकर किया जानेवाला तप बालतप कहलाता है और बाल-तप से आत्म शुद्धि नहीं होती। अतः तप के गूढ़ मर्म का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वह मर्म है कि तप करते रहने से आत्म बल बढ़ता रहे, विचार शुद्धि होती रहे तथा सत्कर्म-नियोजन सुदृढ़ बना रहे। यदि तपस्या करने से आत्मशक्ति ही क्षीण होने लगे, दुर्ध्यान नियंत्रित न हो सके तथा धर्म क्रिया में प्रवृत्ति करना सुखकर प्रतीत न हो, तो वैसी तपस्या से क्या लाभ?

मैं तप के स्वरूप एवं उससे प्राप्त ऊर्जा की सार्थकता इस परिणाम में मानता हूँ कि मेरा तप विषय एवं कषायमय मेरी वृत्तियों को उपशामित करे, पूर्व संचित कर्मों का विनाश करे तथा मेरे हृदय में अपूर्व शान्ति का संचार करे। तप की अग्नि जितनी तेजस्वी हो, आन्तरिक शान्ति उतनी ही शीतल बनती जाये। मैं मानता हूँ कि एक तपस्वी साधक को धृतिमान, सहनशील तथा क्षमाशील होना चाहिए।

देह-शुद्धि से आत्म-शुद्धि तक

तपश्चरण से जहाँ देह के सातों धातुओं को तपाते हैं और उन्हें कृश बनाते हैं, वहाँ आत्मा के आठों कर्मों को भी नष्ट करते हैं। देह तपाराधन से जितनी क्षीण होती जाती है, इच्छाएँ उतनी ही क्षीण हो जाती हैं तथा तृष्णा भी जीर्ण हो जाती है। सच तो यह है कि तपाराधन का मूल उद्देश्य ही तृष्णा को जीर्ण करना है, क्योंकि सामान्यतया मनुष्य का जीवन जीर्ण हो जाता है, लेकिन उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। अतः तपाराधन का देह पर जो प्रभाव पड़ता है, वह यह कि सांसारिक काम-भोगों, विषय-कषायों तथा इच्छाओं को पूरी करने व भोगने का सबल सामर्थ्य ही इस देह में नहीं बचता और आत्मा पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह अप्रतिम होता है। आत्मानुशासन ऐसा कठोर हो जाता है कि मन, इन्द्रियाँ और देह उससे रंच-मात्र भी बाहर नहीं निकल पातीं और तपस्वी आत्मा सदा धर्म और शुक्ल ध्यान में निमग्न रहती है। इस प्रकार देहशुद्धि से आत्मशुद्धि तक की प्रक्रिया तपश्चरण से सफल बनती है।

यहाँ मैं एक तथ्य पर और विचार कर लेना चाहता हूँ और वह तथ्य है— आत्मा एवं देह का पृथक्त्व। अधिकांश लोगों की सामान्य समझ यही होती है कि आत्मा और देह में कोई भेद नहीं है। जीवन है, जब तक ये हैं और जीवन के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह भी माना जाता है कि आत्मा कुछ नहीं होती, यह देह पंचभूत से बनती है तथा मृत्यु के उपरान्त पंचभूतों में ही मिल जाती है। इस प्रकार आत्मा की अनश्वरता एवं निरन्तरता तथा देह की नश्वरता के बिन्दु सामान्य समझ में स्पष्ट नहीं होते हैं। यों तो चेतन व जड़ का संयोग ही सांसारिकता का मूल कारण है तथा दोनों के सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद का नाम ही मोक्ष। किन्तु जीवनों की क्रमिकता एवं निरन्तरता आत्मा एवं देह की पृथक्ता पर टिकी हुई है। आत्मा अलग और देह अलग है। एक जीवन की समाप्ति पर वह देह नष्ट हो जाती है, किन्तु आत्मा नया जीवन धारण करके नयी देह अपना लेती है। यह सब उसके कर्म-चक्र के अनुसार घटित होता है।

मैं समझता हूँ कि आत्मा और देह के अलगाव की बात

सामान्य समझ में ठीक तरह से बैठ जाये, उसके लिए परदेशी राजा और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परदेशी राजा आत्मा और देह की पृथकता को नहीं मानता था और इस विश्वास के कारण वह घोर हिंसामय पाप कार्यों में लगा रहता था। एक बार महान साधक केशी श्रमण बाहर के उद्यान में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पधारे। राजा का सारथी चित्त अपने राजा को धर्म पथ पर मोड़ने को उत्सुक था। अतः नये घोड़ों की चाल दिखाने के बहाने वह परदेशी को उद्यान में केशीश्रमण के पास ले गया। प्रवचन परीषद को देखकर राजा परदेशी की जिज्ञासा जगी और उसने केशीश्रमण से अपने प्रश्न किये तथा केशीश्रमण ने उनके उत्तर दिये, वे इस प्रकार के आशय के थे :

(1) राजा—आत्मा और देह पृथक्—पृथक् हैं— मुझे यह मान्यता असत्य लगती है। प्रमाण देता हूँ। मेरे दादा महाराजा भी दिन—रात पापकर्म में लिप्त रहते थे, लेकिन मुझे वे बहुत ही प्यार करते थे। आप के अनुसार वे नरक में होंगे, तो क्या वे मुझे आकर सावधान नहीं करते कि पाप मत करो, नरक में भीषण यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। वे नहीं आये हैं, इसलिए मेरी मान्यता सत्य है।

केशीश्रमण—अगर तुम अपनी पटरानी सूर्यकान्ता के साथ किसी अन्य विलासी पुरुष को सांसारिक भोग भोगते देख लो, तो उसे क्या दण्ड दोगे?

राजा—मैं बिना एक क्षण की भी देरी किये एक ही बार में उसके प्राण ले लूँगा।

केशी—अगर वह पुरुष कहे कि थोड़ी देर ठहर जाओ—मैं अपने सम्बन्धियों को बताकर वापस आता हूँ कि दुराचार का फल ऐसा होता है। तो क्या तुम थोड़ी देर के लिए उसे छोड़ दोगे?

राजा—ऐसे अपराधी को दण्डित करने में मैं तनिक भी देर नहीं करूँगा।

केशी—जिस तरह तुम उस अपराधी पुरुष को दण्ड देने में देरी नहीं करोगे, उसकी दीनता—भरी प्रार्थना पर भी कोई ध्यान नहीं दोगे, उसी तरह नरक के परमाधार्मिक देव नारकीय जीवों को निरन्तर

यातनाएँ देते रहते हैं—क्षण—भर भी नहीं छोड़ते। अतः तुम्हारे दादा महाराज आना चाहते हुए भी तुम्हें सावधानी दिलाने के लिए आ नहीं सकते।

(2) राजा—मैं अब दूसरा प्रमाण देता हूँ। मेरी दादी श्रमणोपासिका और धर्माराधिका थी, दिन रात धार्मिक क्रियाओं में लगी रहती थी। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थी। आपके अनुसार वह स्वर्ग में गयी होगी और अगर आत्मा व देह पृथक हैं, तो वही मुझे स्वर्ग से सावधान करने के लिए आ जाती कि पाप कार्य मत करो, नहीं करने से स्वर्ग के ऐसे सुख मिलते हैं। किन्तु वह भी नहीं आयी। अतः आत्मा और देह अलग—अलग नहीं हैं।

केशी—जब तुम नहा—धोकर पवित्र वस्त्र पहनकर किसी पवित्र स्थान में जा रहे हो ओ, तब कोई टट्टी में बैठा पुरुष तुम्हें बुलाये तथा कुछ देर अपने साथ बातचीत करने को कहे, तो क्या तुम जाओगे?

राजा—उससे बात करने में अपवित्र स्थान में नहीं जाऊँगा।

केशी—इसी तरह तुम्हारी दादी भी यहाँ आकर तुम्हें समझाने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्य लोक की दुर्गंध आदि के कारणों से यहाँ आने में असमर्थ है।

(3) राजा—एक और उदाहरण सुनिये। एक बार एक चोर को मेरे सामने पेश किया गया। मैंने उसे जिंदा ही लोहे की कुंभी में डलवा दिया। मजबूत ढक्कन और पिघले सीसे से कुंभी ठीक से बंद कर दी। मेरे सिपाही भी उस का पहरा दे रहे थे, लेकिन कुछ दिनों बाद कुंभी खुलवायी गयी तो चोर मरा हुआ पाया गया। आत्मा के उससे बाहर निकलने की तनिक भी कहीं गुंजाइश नहीं थी। अतः आत्मा और देह एक ही हैं।

केशी—यदि पर्वत की चट्टान सरीखी एक कोठरी हो—उसके दरवाजे वगैरह पक्के बंद हों तथा चारों ओर से लीपी हुई हो, हवा तक के घुसने का कोई छेद नहीं हो। उस कोठरी में कोई जोर—जोर से भेरी बजाये, तो उसका शब्द बाहर निकलेगा। या नहीं?

राजा—अवश्य निकलेगा।

केशी—उसी तरह आत्मा भी कुंभी के बाहर निकल सकती है, क्योंकि वह तो शब्द तथा वायु से भी अधिक सूक्ष्म होती है।

(4) राजा—आत्मा और देह को अभिन्न सिद्ध करने के लिए एक और प्रमाण देता हूँ। एक चोर को मारकर मैंने लोहे की कुंभी में डलवाकर उसे पूरी तरह बंद करवा दिया तथा सिपाहियों का पहरा भी लगा दिया। लेकिन कुछ दिन बाद उसे खुलवाया गया, तो वह कीड़ों से भरी हुई थी। ये कीड़े बाहर से कैसे घुस गये? वे तो उसी देह के अंश थे। वे जीव बाहर से नहीं आये?

केशी—तुमने आग में तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा—आग उसके प्रत्येक अंश में प्रवेश कर जाती है। गोले में कहीं छेद नहीं होता, फिर वह आग भीतर कैसे घुस जाती है? उसी तरह आत्मा अग्नि से भी सूक्ष्म होती है।

(5) राजा—धनुर्विद्या जाननेवाला तरुण पुरुष एक साथ पाँच बाण फेंक सकता है, लेकिन उसकी ऐसी होशियारी उसके बचपन में नहीं होती। शरीर वृद्धि के साथ ही होशियारी आती है, जिससे साफ है कि आत्मा और देह एक होते हैं।

केशी—वह तरुण पुरुष नया धनुष और नयी डोरी लेकर ही पाँच बाण एक साथ फेंक सकता है—पुराने धनुष व पुरानी डोरी से नहीं। यह उपकरण का प्रभाव है। वैसे ही बचपन में धनुष की शिक्षा रूप उपकरण का अभाव होने से एक बालक वैसा नहीं कर सकता। यह उपकरण के अभाव का प्रभाव है।

राजा—एक तरुण पुरुष लोहे, सीसे या जस्ते के बड़े भार को उठा सकता है, लेकिन वही बूढ़ा हो जाने पर भार उठाना तो दूर—खुद भी लकड़ी के सहारे चलने लगता है। यदि आत्मा और देह पृथक होते, तो वह बुढ़ापे में भी भार उठाने में समर्थ रहता।

केशी—इतने बड़े भार (कांवड़) को तरुण पुरुष ही उठा सकता है, लेकिन उसके पास भी बांस फटा व कपड़ा गला हुआ हो, तो क्या वह उस कांवड़ को उठा सकेगा? उसी प्रकार शारीरिक साधन की दुर्बलता से वृद्ध पुरुष वह भार नहीं उठा पाता। इसमें आत्मा व देह के एक होने का कोई प्रश्न नहीं है।

(6) राजा—मैंने एक चोर को जिंदा हालत में तोला और मारने के बाद फिर तोला, लेकिन वजन में कोई फर्क नहीं आया। अगर आत्मा नाम की कोई वस्तु होती और वह निकलती, तो उसके वजन की तो कमी होनी चाहिए थी।

केशी—चमड़े की मशक में हवा भरकर तोलो और फिर हवा निकालकर तोलो, तो क्या वजन में फर्क पड़ेगा?

राजा—नहीं।

केशी—आत्मा तो हवा से भी सूक्ष्म होती है, क्योंकि हवा गुरु—लघु है, लेकिन आत्मा अगुरु—लघु है। अतः यह प्रमाण भी व्यर्थ है।

राजा—आत्मा है या नहीं—यह देखने के लिए मैंने एक चोर को चारों ओर से जाँचा—पड़ताला, कहीं आत्मा नहीं दिखी। उसके छोटे—छोटे टुकड़े करवा दिये, तब भी कहीं आत्मा नहीं दिखी। इसलिए आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

केशी—तुम तो उस लकड़हारे के समान मूर्ख हो, जो लकड़ी के टुकड़े—टुकड़े करके उसमें आग खोजा करता है और आग न मिलने पर निराश हो जाता है। आत्मा देह के किसी खास अवयव में नहीं रहती, बल्कि सम्पूर्ण देह में व्याप्त होती है। देह की प्रत्येक क्रिया उसी के कारण होती है। अतः आत्मा और देह की पृथकता स्वयंसिद्ध है।

इस प्रकार उपरोक्त प्रश्नोत्तर सरल एवं सुबोध शैली में आत्मा तथा देह की पृथकता को समझा देते हैं, जो सामान्य समझ में भी भलीभाँति बैठ सकता है।

मैं मानता हूँ कि आत्मा एवं देह की पृथकता का यह बिंदु तपाराधन की आधार—भित्ति है, क्योंकि मुख्य रूप से तप के दो प्रकार कहे गये हैं— बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्य तप के छः भेद हैं तथा आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं, जो कुल मिलाकर बारह भेद होते हैं। बाह्य तप का अभिप्राय है कि देह शुद्धि हो और आभ्यन्तर तप का उद्देश्य आत्मशुद्धि है। दोनों स्थानों में शुद्धि का अर्थ है कि सांसारिक विषय—कषायों का मैल साफ हो जाये। देह का यह मैल तब तक साफ नहीं होता, जब तक कि शारीरिक शक्ति उन भोगों को भोगने में लगी रहती है, अतः उनसे विरत होने के लिए बाह्य तप का सेवन किया

जाता है, ताकि अशुभता में लगनेवाली देह की तथा उसके माध्यम से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाये। देह शुद्धि के साथ-साथ आत्म शुद्धि का कार्य भी चलता रहना चाहिए। आभ्यन्तर तपों का आचरण भीतरी विचारों का मैल साफ करता है। वृत्तियों की शुद्धि के साथ प्रवृत्तियों की शुद्धि एवं प्रवृत्तियों की शुद्धि से वृत्तियों की शुद्धि का क्रम तपाचरण से क्रमशः चलता रहना चाहिए। इस शुद्धि क्रम में आत्मा एवं देह की पृथकता का बिन्दु इस कारण से महत्वपूर्ण है कि सामान्य रूप से मनुष्य का अपनी देह पर अत्यधिक ममत्व होता है। यहाँ तक कि वह कई बार देह को ही 'स्वयं' मानकर चलने लगता है तथा देह के सुख के लिए सभी प्रकार के कार्य-अकार्य करने पर उतारू हो जाता है। अतः इस बिन्दु की स्पष्टता के बाद उसकी यह धारणा बन जानी चाहिए कि देह वह 'स्वयं' नहीं है, वह 'स्वयं' तो आत्मा है। इस कारण देह उससे पृथक् है और इसी कारण देह का पोषण आत्मा का पोषण नहीं है, बल्कि स्थिति इसके एकदम विपरीत है। देह का पोषण कम किया जायेगा—उस पर से अपने ममत्व को घटाया जायेगा, तभी वास्तविक रूप से आत्मा का पोषण प्रारंभ होगा। देह मोह जितने अशों में मिटेगा, उन्हीं अशों में आत्म-स्वरूप की विशेष रूप से अनुभूति होगी। यही आत्मानुभूति तथा उसकी परिपुष्टता तपाराधन का प्रधान लक्ष्य है।

जब मैं भली-भाँति यह समझ लूँगा कि मैं देह नहीं हूँ, अपितु आत्मा हूँ तथा देह एक रूप से आत्मा के लिए बंधन है, जो कर्मण देह के रूप में आत्मा को बांधे रखती है तथा इसी के फलस्वरूप आत्मा बार-बार भिन्न-भिन्न देहों के चोले में बंधती है, तभी मेरा देह-मोह घट और मिट सकेगा। बाह्य प्रकार के तप इसी देह मोह को क्षीणतर करते रहने के अनुष्ठान हैं। देह मोह की क्षीणता के बाद ही आत्मस्वरूप की अनुभूति प्रबल बनती है, जो आभ्यन्तर प्रकार के तपाचरण से प्रबलतर होती हुई चली जाती है।

मैं यह भी मानता हूँ कि इस रूप में समग्र तपश्चरण की कठोरता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कर्मण शरीर टूटता जाता है यानि कि कर्मक्षय का क्रम चल जाता है। तपश्चरण सम्पूर्ण कर्म क्षय का आधार शास्त्र है। मैंने नव तत्त्वों के स्वरूप-विश्लेषण से

जाना है कि बंध तत्व जहाँ आश्रय तत्व के द्वार से कर्मों का आगमन और बंध कराता है, वहाँ संवर तत्व की आराधना बाहर से आने और बंधनेवाले कर्मों को रोक देती है। तब समस्या रह जाती है, पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करके आत्मा को सम्पूर्ण स्वरूप से निर्मल बना लेने की। यह निर्जरा तत्व होता है, जिसकी साधना से पूर्वोपार्जित कर्म नष्ट किये जाते हैं। यह निर्जरा की साधना ही तपाराधना है।

इस रूप में तप के बाह्य छः एवं आभ्यन्तर छः कुल बारह प्रकार क्रमशः निम्नानुसार होते हैं :-

(1) अनशन (2) ऊनोदरी (3) भिक्षाचर्या (4) रस परित्याग (5) कायाक्लेश (6) प्रतिसंलीनता (7) प्रायश्चित्त (8) विनय (9) वैयावृत्य (10) स्वाध्याय (11) ध्यान तथा (12) व्युत्सर्ग।

तपों का यह क्रम एक दूसरे से उच्चतरता का आपेक्षिक क्रम है—बाह्य भेद में भी और आभ्यन्तर भेद में भी। अनशन में सम्पूर्ण आहार त्याग होता है और ऊनोदरी में अल्प या मित आहार लिया जाता है। तब भी ऊनोदरी तप अनशन की तुलना में उच्चतर माना जाता है, क्योंकि कुछ न खाने की अपेक्षा भूख से कम खाने की कठोरता अधिक होती है। इसी प्रकार उच्चतरता का क्रम आगे से आगे होता है। भूख से कम खाने की अपेक्षा मान मोड़कर भिक्षा माँगकर लाना और खाना अधिक कठिन होता है, जबकि उससे भी अधिक कठिन सारे रस छोड़कर शुष्क (सूखा) भोजन खाना। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप—क्रम में भी प्रायश्चित्त सबसे कम कठोर माना गया है, जो अपने अकृत्य के प्रति खेद का अनुभव कराता है। उससे उच्चतर होता है विनय—अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों में से अभिमान को निकाल फेंकना और नम्रता की प्रतिमूर्ति बन जाना। इसके बाद क्रमशः वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान आता है। सर्वोच्च तप है व्युत्सर्ग, जिसका अर्थ होता है सांसारिकता के सम्पूर्ण मोह का सर्वथा त्याग। इसमें शरीर तक का त्याग सम्मिलित होता है।

मैं तपश्चरण के इस क्रम को अनूठा मानता हूँ, क्योंकि कई मान्यताओं का तप तो अनशन तक ही सिमटकर रह जाता है। जबकि वीतराग देवों ने अनशन को मात्र प्राथमिक तप माना है और वह भी

बाह्य—शरीर से सम्बन्धित। बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकारों में यही अन्तर है कि बाह्य तप देह शुद्धि से प्रारंभ होते हैं तथा आत्म शुद्धि का धरातल तैयार करते हैं तथा आभ्यन्तर तप आत्म शुद्धि से प्रारंभ होकर उसकी परम शुद्धि तक पहुँचते हैं तथा उनका प्रभाव शरीर में तेज एवं ओज के रूप में प्रकट होता है।

मैं साधना के इस श्रेष्ठ अंग—तपश्चरण पर जितना अधिक चिन्तन करता हूँ, उतनी ही गूढ़ता मेरे मन में गहराती जाती है, जैसे कि उस गूढ़ता का कहीं ओर—छोर ही न हो। इस कारण मैं जरूरी समझता हूँ कि तप के एक—एक प्रकार पर विस्तृत रूप से सोचूँ तथा उनके आत्मप्रेरित आचरण में निष्ठा का संघय करूँ। यह विस्तृत विश्लेषण मेरे विचार को स्पष्टता देगा, तो मेरे आचार को भी परिपुष्ट बनायेगा, ताकि मैं अपनी आत्म—विकास की इस महायात्रा में त्वरित गति से आगे बढ़ सकूँ।

आहार—त्याग रूप अनशन

मैं मानता हूँ कि शरीर और आत्मा को तपाना ही तप है। जैसे अग्नि में तपा हुआ सोना पूर्ण निर्मल होकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि में तपी हुई देह और आत्मा मल से रहित होकर शुद्ध—स्वरूप हो जाती है।

तपश्चरण के इस क्रम में पहला है अनशप तप। आहार का त्याग करना अनशन तप है। इसके दो भेद कहे गये हैं— (1) इत्वर—एक दिन के उपवास से लेकर छः माह तक का अनशन तप इत्वर अनशन है। (2) यावत्कथित—भक्त परिज्ञा, इंगित मरण और पादोपगमन मरण रूप अनशन यावत्कथित अनशन है। इसे मरण—काल अनशन कह सकते हैं।

इत्वरिक अनशन में भोजन की आकांक्षा रहती है, इसलिए इसे साकांक्ष अनशन भी कहते हैं, जबकि मरण काल अनशन (संधारा) जीवन पर्यन्त के लिए होता है। उसमें भोजन की कतई आकांक्षा नहीं रहती, इस कारण वह निःकांक्ष अनशन भी कहलाता है।

इत्वरिक अनशन छः प्रकार का कहा गया है :—(1) श्रेणी

तप-श्रेणी का अर्थ होता है क्रम या पंक्ति। उपवास, बेला, तेला आदि क्रम से किया जानेवाला तप श्रेणी तप है, जो क्रमिक रूप से उपवास से लेकर छः माह तक का होता है। (2) प्रतर तप-श्रेणी को श्रेणी से गुणा करना प्रतर है। प्रतर युक्त तप प्रतर तप कहलाता है। जैसे- उपवास, बेला, तेला और चौला- इन चार पदों की श्रेणी होती है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर सोलह पद होते हैं। प्रतर का आयाम विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) में बराबर होता है। प्रतर की स्थापना की विधि इस प्रकार है-प्रथम पंक्ति में एक दो तीन चार रखना है। दूसरी पंक्ति दो से आरंभ करना और तीसरी व चौथी क्रमशः तीन व चार से आरंभ करना। इस प्रकार रखने में पहली पंक्ति पूरी होगी और शेष अधूरी रहेगी। जिन्हें यथायोग्य आगे की संख्या और फिर क्रमशः बची हुई संख्या रखकर पूरी करना चाहिए। स्थापना यह है-1, 2, 3, 4, (2) 2, 3, 4, 1 (3) 3, 4, 1, 2 तथा (4) 4, 1, 2, 3। (3) घन तप-प्रतर को श्रेणी से गुणा करना घन है। यहाँ सोलह को चार से गुणा करने पर आयी हुई चौसठ की संख्या घन है। घन से युक्त तप घन तप कहलाता है। (4) वर्ग तप-घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहाँ चौसठ को चौसठ से गुणा करने पर आयी 4096 की संख्या वर्ग है। वर्ग से युक्त तप वर्ग तप कहलाता है। (5) वर्ग-वर्ग तप-वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग-वर्ग है। यहाँ 4096 को 4096 से गुणा करने पर आयी हुई 16777216 की संख्या वर्ग-वर्ग है। वर्ग-वर्ग से युक्त तप करना वर्ग-वर्ग कहलाता है। (6) प्रकीर्ण तप-श्रेणी आदि की रचना न कर यथाशक्ति फुटकर (छुटक) तप करना प्रकीर्ण तप है। नवकारसी से लेकर यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमादि सभी प्रकीर्ण तप हैं।

एक अन्य अपेक्षा से अनशन तप के बीस भेद बताये गये हैं। इत्वरिक के 14 भेद- (1) चतुर्थ भक्त (2) षष्ठ भक्त (3) अष्टम भक्त (4) दशम भक्त (5) द्वादश भक्त (6) चतुर्दश भक्त (7) षोडशभक्त (8) अर्धमासिक (9) मासिक (10) द्वैमासिक (11) त्रैमासिक (12) चातुर्मासिक (13) पंच मासिक तथा (14) षाण्मासिक। यावत्कथित के 6 के भेद-(1) पादोपगमन (2) भक्त प्रत्याख्यान (3) इंगित मरण तथा इनके निहारी और अनिहारी के भेद से छः भेद हो जाते हैं।

यावत्कथित अनशन तप (संधारा) के अन्तर्गत आहार का

त्याग करके अपने शरीर के किसी अंग को किंचिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से संथारा करना पादोपगमन कहलाता है। पादोपगमन के दो भेद हैं—(1) व्याघातिम—सिंह, व्याघ्र तथा दावानल (वन की आग) आदि का उपद्रव होने पर जो संथारा (अनशन) किया जाता है, वह व्याघातिम पादोपगमन संथारा कहलाता है। (2) निर्व्याघातिम—जो किसी भी उपद्रव के बिना स्वेच्छा से संथारा किया जाता है, वह निर्व्याघातिम पादोपगमन संथारा कहलाता है। दूसरे, भक्त—प्रत्याख्यान यावत्कथित अनशन तप का अर्थ होता है— चार अथवा तीन प्रकार के आहार का त्याग कर लेना और इसी अवस्था में भक्त—परिज्ञा मरण यावत्कथित अनशन तप भी होता है। इसके तीसरे भेद इंगित मरण के अनुसार दूसरे साधुओं से सेवा—शुश्रूषा न करवाते हुए नियमित प्रदेश की सीमा में रहकर संथारा करना होता है। ये तीनों भेद निहारी और अनिहारी रूप होते हैं। निहारी संथारा ग्रामनगर के अन्दर किया जाता है तथा अनिहारी संथारा ग्राम—नगर से बाहर किया जाता है। जिस मुनि का मरण ग्राम—नगर में हुआ हो और उस के मृत शरीर को ग्राम—नगर से बाहर ले जाना पड़े, तो वह निहारी मरण कहलाता है। ग्राम—नगरादि के बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में जो मरण हो, वह अनिहारी मरण कहलाता है।

यावत्कथित अनशन के काम चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं—(1) सविचार—काया की क्रियासहित अवस्था तथा (2) अविचार—निष्क्रिय। दूसरी अपेक्षा से दो भेद इस प्रकार हैं—(1) सपरिकर्म—संथारे की अवस्था में दूसरे मुनियों से सेवा लेना तथा (2) अपरिकर्म—सेवा की अपेक्षा नहीं रखना।

मैं सबसे पहले क्रम पर रखे गये इन अनशन तप के स्वरूप पर ही जब चिन्तन करता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि कितना उत्कृष्ट एवं कष्ट—साध्य स्वरूप है इसका ? सामान्य जन को एक उपवास भी कठिन लगता है, जबकि उपवासों की श्रेणियों, प्रतरों आदि की गुणात्मक आराधना के लिए तो प्रखर आत्म—बल की आवश्यकता होती है। यों भूखा रहना भी आसान नहीं होता, इसी कारण नीति में कहा गया है कि बुभुक्षित (भूखा) पुरुष क्या—क्या पाप नहीं कर डालता। ऐसी दशा में इच्छापूर्वक भूखा रहना और इन्द्रियदमन करना वस्तुतः

टेढ़ी खीर है। यह विचार उठ सकता है कि जब पहले तप की ही यह कठिनता है, तो आगे के तपों की आराधना कितनी कठिन होगी, किन्तु कठिनता और सरलता की समझ मनोदशा के अनुरूप होती है। मैं मानता हूँ कि यदि इरादा मजबूत हो, तो दूसरों को कठिन समझ में आनेवाला काम भी मजबूत इरादेवाले को आसान लगता है। इसके विरुद्ध अगर इरादा दुलमुल रहता है, तो हकीकत में आसान काम भी उसके लिए कठिन बन जाता है। फिर तपश्चरण तो वस्तुतः ही कठिन होता है। जीवितावस्था में अनशन तथा मरणकाल में भी अनशन यानि संथारा—तब कहीं पहले तप की सफल आराधना बन पड़ती है।

मैं सोचता हूँ कि जो साधक अपने जीवन में तथा मरण में अनशन व्रत की ही सफल साधना कर लेता है, वह अपनी आत्मा को तपा डालता है और अपने मरण को पंडित मरण बना लेता है।

अल्पताबोधक तपस्या

अल्पताबोधक तपस्या ऊनोदरी होती है कि जिसका जितना आहार है, उससे कम आहार करना अर्थात् भूख से कम खाना। भूख से कम खाने की कठिनाई अपनी ही तरह की होती है। मैं सोचता हूँ कि यदि मैं उपवास का प्रत्याख्यान कर लूँ तो मन में शान्ति आ जाती है कि आज मुझे भोजन करना ही नहीं है—भोजन की लोलुपता सताती नहीं। किन्तु खाना खाने बैठूँ भी और खाऊँ भी, लेकिन भूख से तृप्ति न लूँ—तृप्ति के पहले ही खाना बन्द कर दूँ—यह स्थिति हकीकत में उपवास की अपेक्षा कठिनतर होती है। खाना खाना शुरू कर देने पर विभिन्न व्यंजनों का स्वाद अनुभव में आता है, तो खाने से सम्बन्धित लोलुपता भी उत्तेजित हो जाती है, वैसी अवस्था में तृप्ति के घोर तक पहुँचने से पहले ही अपने को रोक लेना अधिक निरोध शक्ति की अपेक्षा रखता है। मैं समझता हूँ कि ऊनोदरी तप की वास्तविक आराधना से ही इस सत्य का सही अनुभव हो सकता है।

ऊनोदरी की तपस्या आहार के सम्बन्ध में ही अल्पताबोधक नहीं है, अपितु उपकरणों के सम्बन्ध में भी अल्पता बोधक है। आहार के समान ही आवश्यक उपकरणों से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार तथा उपकरणों में आवश्यकता से भी कमी करना इस

ऊनोदरी तप का द्रव्य रूप है, तो इसका भाव रूप यह होगा कि क्रोध आदि कषायों को मंद एवं अल्प किया जाये।

इस रूप में ऊनोदरी तप के प्राथमिक दृष्टि से दो भेद हुए—(1) द्रव्य ऊनोदरी एवं (2) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद बताये गये हैं—(1) उपकरण द्रव्य ऊनोदरी तथा (2) भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी। पहले भेद उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद—(1) पात्र (2) वस्त्र और (3) जीर्ण उपधि। दूसरे भेद भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी के पाँच भेद—(2) अल्पाहार ऊनोदरी—एक से आठ कवल (कवे) प्रमाण आहार करना। (2) उपार्ध ऊनोदरी—नौ से बारह कवल प्रमाण आहार करना। (3) अर्ध ऊनोदरी—तेरह से सोलह कवल प्रमाण आहार करना। (4) पौण ऊनोदरी—सत्तरह से चौबीस कवल प्रमाण यानि पौन आहार करना एवं (5) किञ्चित् ऊनोदरी—पच्चीस से इकतीस कवल प्रमाण आहार करना, क्योंकि पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है। भाव ऊनोदरी के सामान्यतः छः भेद किये जाते हैं—(1) अल्प क्रोध अर्थात् क्रोध का निग्रह करते चले जाने की प्रक्रिया। (2) अल्प मान—सामान्य रूप से अनुभव में आनेवाली मान वृत्ति को कम करना। (3) अल्प माया—अपने मायाचार को घटाना। (4) अल्प लोभ—तप का विचार रखते हुए अपनी लोभ वृत्ति में कमी करना। (5) अल्प शब्द—वाणी निग्रह का ध्यान रखना। तथा (6) अल्प झुंझ (कलह)—राग द्वेष की वृत्तियों तथा कलहकारी प्रवृत्तियों में कमी लाना।

ऊनोदरी तप की महत्ता को मैं समझूँ तथा इसकी अराधना का व्रत लूँ। भोजन और उपकरणों का परिमाण मैं क्रमशः घटाता चलूँगा, तो उसका निश्चित रूप से यह प्रभाव होगा कि मैं बाहरी सुख—सुविधाओं के सम्बन्ध में अपने चित्त की लिप्तता को कम कर सकूँगा, क्योंकि आहार का परिमाण घटता रहेगा, तो देह—मोह घटेगा और खाने के लिए जीने की नहीं, बल्कि जीने के लिए खाने की शुद्ध प्रवृत्ति का विकास हो सकेगा। साधु अवस्था में भी कई बार देह मोह मितता नहीं है, तो उसकी सुख सुविधाओं का खयाल आ जाता है, जिसके निराकरण के लिए आहार के साथ उपकरणों की अल्पता का बोध भी इस ऊनोदरी तप के माध्यम से होता है।

मेरा विचार है कि जब साधु के लिए शास्त्र सम्मत आहार (बत्तीस कवल) में भी कमी की जाती है और इसी प्रकार भंड, वस्त्र, पात्र एवं उपकरणों में भी मान्य परिमाण से भी अल्पता ग्रहण होती है, तब निश्चय ही उस सादगी का असर मन के भावों पर शुभ रूप में पड़ता है। भाव ऊनोदरी के रूप में उसके क्रोध, मान, माया तथा लोभ की वृत्तियों में कमी आती है, वह मितभाषी हो जाता है तथा क्रोध के वशीभूत होकर वचन नहीं निकालता एवं आते हुए क्रोध को शान्त कर देता है। इस प्रकार यह ऊनोदरी तप अपने आचरण में पहले तप अनशन की अपेक्षा कठिनतर होता है। मैं भावना भाता हूँ कि इस तप की मेरी आराधना सफल बने, ताकि मैं देह-मोह से दूर हटकर आत्म-स्वरूप में अधिक रमण कर सकूँ एवं अपने कषाय भावों को मन्दतर बना सकूँ। मेरे कर्मक्षय की दिशा में मैं इस दूसरे सोपान पर दृढ़ संकल्प के साथ आरूढ़ हो सकूँ और तीसरे सोपान पर पहुँचने की शक्ति अर्जित कर सकूँ-ऐसी मेरी भावना है।

भिक्षाचर्या वृत्ति-संकोच

विविध अभिग्रह (प्रण) लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षाचर्या तप कहलाता है। अभिग्रहपूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है। इसलिए इसे वृत्ति-संक्षेप भी कहते हैं।

मैं संसार में इस सामान्य तथ्य का अनुभव करता हूँ कि मनुष्य के मन में अहंकार बड़ी गहरी जड़ें जमाकर टिका हुआ होता है। इसी कारण कोई किसी का अहसान लेने से झिझकता है। सामान्य रूप से मनुष्य सोचता है कि वह किसी से क्यों कुछ माँगकर नीचा बने ? छोटे से छोटे आदमी में भी दबा-छिपा हो, लेकिन ऐसा अहं जरूर होता है। इस अहंकार को तोड़ना तथा अपने-आपको याचक के रूप में प्रस्तुत करना बड़ा कठिन होता है। वैसे भिक्षा के अनुभव भी सामान्य नहीं होते -कहीं घी घणा तो कहीं ओछा चणा। यह तो ठीक, लेकिन दाता के व्यवहार में भी बड़ी विचित्रता दृष्टि में आती है। दाता सद्व्यवहारी भी हो सकता है और असद् व्यवहारी भी। असद् व्यवहारी दाता की अवहेलना एवं अवमानना शान्तिपूर्वक सह लेना सरल नहीं होता है।

इस रूप में भिक्षाचर्या का तप तपनेवाले की आन्तरिक वृत्तियों की कड़ी परीक्षा लेता है।

मैं चिन्तन करता हूँ कि भिक्षाचर्या तप को वृत्ति संक्षेप क्यों कहा है? वृत्ति का अर्थ होता है—निर्वाह के साधन रूप भोजन उपकरण आदि। जब सर्वविरति धर्म के पालन साधु भिक्षा वृत्ति को अपनाता है, तब निश्चय ही वह अहंकार—जयी बनता है। अहंकार को जीतने के साथ ही यह विचार आना स्वाभाविक है कि जब भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह चलाना है, तो पहली बात यह कि उसे बहुत ही आवश्यक पदार्थों पर निर्भर रहना चाहिए। दूसरे, उस अति आवश्यकता में भी अल्पता की जाती रहे, तो वह श्रेष्ठ है। इस प्रकार भिक्षाचर्या की भावपूर्ण आराधना में वृत्ति संक्षेप एक अनिवार्य निष्पत्ति बनती है। यह वृत्ति संक्षेप ही वृत्ति संकोच होता है।

भिक्षाचर्या के तप में भी शुद्धता की दृष्टि से कड़ी कसौटियाँ रखी गयी हैं। एक निर्ग्रन्थ साधु को निम्न नौ कोटियों से विशुद्ध आहार ही ग्रहण करना होता है—

- (1) साधु आहार के लिए स्वयं जीवों की हिंसा न करे।
- (2) इस हेतु दूसरों के द्वारा भी हिंसा नहीं कराये।
- (3) इस हेतु हिंसा करते हुए का अनुमोदन भी नहीं करे अर्थात् उसे भला न समझे।
- (4) आहार आदि स्वयं नहीं पकाये।
- (5) दूसरे से न पकवाये।
- (6) पकाते हुए का अनुमोदन न करे।
- (7) आहार आदि स्वयं नहीं खरीदे।
- (8) दूसरे को खरीदने के लिए न कहे तथा
- (9) खरीदते हुए किसी व्यक्ति का अनुमोदन नहीं करे।

ये नौ कोटियाँ मन, वचन एवं काया रूप तीनों प्रकार के योगों से सम्बन्धित मानी जानी चाहिए।

भिक्षाचर्या तप के तीस भेद कहे गये हैं—(1) द्रव्य—द्रव्य विशेष का अभिग्रह लेकर भिक्षाचर्या करना। (2) क्षेत्र—स्वग्राम और परग्राम से

भिक्षा लेने का अभिग्रह करना। (3) काल— प्रातःकाल या मध्याह्न में भिक्षाचर्या करना। (4) भाव—गाना, हँसना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त पुरुषों से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना। (5) उत्क्षिप्त चरक—अपने प्रयोजनों के लिए गृहस्थी के द्वारा भोजन के पात्र से बाहर निकाले हुए आहार की गवैषणा करना। (6) निक्षिप्त चरक—भोजन के पात्र से उद्धृत और अनुद्धृत दोनों प्रकार के आहार की गवैषणा करना। (7) उत्क्षिप्त—निक्षिप्त चरक—पहले पात्र में डाले हुए भोजन और फिर अपने लिए बाहर निकाले हुए आहार आदि की गवैषणा करना। (8) निक्षिप्त—उत्क्षिप्त चरक—दाता ने पके हुए भोजन से अन्नादिक को निकालकर दूसरे पात्र में रख दिया हो, उसी को हाथ में उठाया हो, उससे देने की गवैषणा करना। (9) वर्तमान चरक—गृहस्थी के लिए थाली में परोसे हुए आहार की गवैषणा करना। (10) साहर्त्यमान चरक (साहरिज्जमाण चरिण्)—कूरा (एक प्रकार का धान) आदि जो टंडा करने के लिए थाली आदि में डालकर वापस भोजन पात्र में डाल दिया गया हो—ऐसे आहार की गवैषणा करना। (11) उपनीत चरक (उवणीय चरिण्)—दूसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिए लाये गये आहार की गवैषणा करना। (12) अपनीत चरक (अवणीय चरिण्)—पकाने के पात्र में से निकालकर दूसरी जगह रखे हुए पदार्थ की गवैषणा। (13) उपनीतापनीत चरक (उवणीआवणीय चरिण्)—उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवैषणा करना अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुनकर फिर ग्रहण अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशंसा और दूसरे गुण की अपेक्षा दूषण सुनकर फिर लेना। जैसे यह जल टंडा तो है, लेकिन खारा है—आदि। (14) अपनीतोपनीत चरक (अवणीयोवणीअ चरिण्)—मुख्य रूप से अवगुण और सामान्य रूप से गुण को सुनकर उस पदार्थ को लेना है। जैसे यह जल खारा है, लेकिन टंडा है—आदि। (15) संसृष्ट चरक (संसृष्ट चरण्)—उसी पदार्थ से खरड़े (लिए) हुए हाथ से दिये जानेवाले आहार की गवैषणा करना। (16) असंसृष्ट चरक (असंसठचरण्)—बिना खरड़े हुए हाथ से दिये जानेवाले आहार की गवैषणा करना। (17) तज्जात संसृष्टचरक (तज्जाये संसृष्टचरण्) भिक्षा में दिये जानेवाले पदार्थ के समान (अविरोधी) पदार्थ से खरड़े हुए हाथ से दिये जानेवाले आहार की गवैषणा करना। (18) अज्ञात चरक (अण्णाय चरण्)—अपना परिचय

दिये बिना आहार की गवैषणा करना। (19) मौन चरक (मोणचरए)—मौन धारण करके आहार आदि की गवैषणा करना। (20) दृष्ट लाभिक (दिदृष्टलाभिए)—दृष्टिगोचर होनेवाले आहार की ही गवैषणा करना अथवा सबसे पहले दृष्टिगोचर होनेवाले दाता से भी भिक्षा लेना। (21) अदृष्टलाभिक (अदिदृष्टलाभिए)—अदृष्ट अर्थात् पर्दे आदि के भीतर रहे हुए आहार की गवैषणा करना अथवा पहले देखे हुए दाता से आहार आदि लेना। (22) पृष्टलाभिक (पुदृष्टलाभिए)—हे मुनि! तुम्हें किस चीज की जरूरत है?—ऐसा पूछनेवाले दाता से आहार आदि की गवैषणा करना। (23) अपृष्टलाभिक (अपुदृष्टलाभिए)—किसी प्रकार का प्रश्न न पूछनेवाले दाता से ही आहार आदि की गवैषणा करना। (24) भिक्षा लाभिक (भिक्खलाभिए)—रूखे-सूखे तुच्छ आहार की गवैषणा करना। (25) अभिक्षा लाभिक (अभिक्ख लाभिए)—सामान्य आहार की गवैषणा (26) अन्नग्लायक (अएण गिलायए)—अन्न को बिना ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रातःकाल ही आहार की गवैषणा करना। (27) औपनिहितक (ओवणिहए) किसी तरह पास में रहनेवाले दाता से आहार आदि की गवैषणा करना। (28) परिमित पिंडपातिक (परिमिय पिंडवाइए)—परिमित आहार की गवैषणा करना। (29) शुद्धैषणिक (सुद्धेसणिए)—शंकादि दोष रहित शुद्ध एषणापूर्वक कूरा आदि तुष्ट अन्न वगैरह की गवैषणा करना। (30) संख्यादत्तिक (संखादत्तिए)—बीच में धार न टूटते हुए एक बार में जितना आहार या पानी साधु के पात्र में गिरे, उसे एक दत्ति कहते हैं। ऐसी दत्तियों की संख्या का नियम करके भिक्षा की गवैषणा करना।

उपरोक्त भेदों से यह स्पष्ट है कि भिक्षाचर्या किसी न किसी अभिग्रह (प्रण) के साथ होनी चाहिए, जिससे इस तप की कठोरता बढ़ जाती है। भिक्षा लेनेवाले मुनि ने क्या अभिग्रह ले रखा है—इसका ज्ञान दाता को होता नहीं है, जिससे स्वाभाविक तौर पर ही अभिग्रह की पूर्ति हो, तो मुनि भिक्षा ग्रहण करते हैं। अभिग्रह की पूर्ति होगी या नहीं अथवा कब होगी—इसकी कोई निश्चितता नहीं रहती। इस रूप में भिक्षाचर्या के तप में बहुत बड़े त्याग-भाव की अपेक्षा रहती है।

मच्छ की उपमा से भिक्षा लेनेवाले भिक्षुक के पाँच प्रकार बताये गये हैं—(1) अनुस्तोतचारी—अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय के समीप

से प्रारंभ करके क्रम से भिक्षा लेना। (2) प्रतिस्त्रोतचारी—अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय से बहुत दूर जाकर लौटते हुए भिक्षा लेनेवाला। (3) अन्तचारी—क्षेत्र के पास में अर्थात् अन्त में भिक्षा लेनेवाला। (4) मध्यचारी—क्षेत्र के बीच-बीच के घरों से भिक्षा लेनेवाला तथा (5) सर्वस्त्रोतचारी—सर्व प्रकार से भिक्षा लेनेवाला।

वीतराग देवों ने सच्चा भिक्षुक (साधु) उसको कहा है, जो तपश्चर्या और सहिष्णुता के साथ आत्म-विकास साधता है। भिक्षा के सम्बन्ध में वह अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों में आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरों से भिक्षावृत्ति करके आनन्दपूर्वक संयम धर्म का पालन करता है। वह किसी भी वस्तु में मूर्छा-भाव नहीं रखता तथा परिषहों व उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करता है। अपने लिए आवश्यक शय्या (घासफूस) पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हो, किन्तु उसके द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह नहीं दे, तो सच्चा भिक्षुक उसको जरा भी द्वेषयुक्त वचन न कहे और न अपने मन में बुरा ही माने, क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनों में समान भाव रखना चाहिए। वह गृहस्थों से आहार, पानी, खादिम, स्वादिम जो भी पदार्थ प्राप्त करे, उन्हें पहले अपने साथी साधुओं में बाँटे और बाद में मन, वचन व काया को वश में रखते हुए स्वयं आहार करे। गृहस्थ के घर से ओसामण, पतली दाल, जौ का दलिया, टंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि आहार प्राप्त करके जो भिक्षुक उसकी निन्दा नहीं करता और सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर भिक्षावृत्ति करता है, वही सच्चा भिक्षुक होता है, क्योंकि साधु को अपने संयमी जीवन के निर्वाह के लिए ही आहार आदि ग्रहण करना चाहिए, जिह्वा की लोलुपता शान्त करने के लिए नहीं। भिक्षाचर्या के तप की आराधना में श्रेष्ठ समभाव की आवश्यकता होती है, तो तप की सफल आराधना से समभाव का उत्कृष्ट रूप निखरता जाता है।

मात्र जीने के लिए खाना

संयम की साधना का साध्य, मैं मानता हूँ आत्म-विकास एवं स्व-पर कल्याण को और इस संयम को साधने का साधन रूप होता

है शरीर। इस दृष्टि से शरीर जिस रीति से संयम धर्म का साधन बना रहे, उसी रीति का उसका पोषण होना चाहिए। ऐसा पोषण नहीं कि वह किसी भी रूप में अधर्म का साधन बने। अतः रस परित्याग का चौथे प्रकार का तप निर्देश देता है कि देह में विकार पैदा करनेवाले दूध, दही, घी आदि विगयों तथा उनसे बनाये जानेवाले स्निग्ध एवं गरिष्ठ खाद्य पदार्थों का त्याग किया जाये। खाना बिल्कुल सादा, बल्कि रूखा-सूखा हो। खाने के लिए जीने की लिप्सा तो कतई होनी ही नहीं चाहिए—मात्र जीने के लिए खाने का भाव होना चाहिए।

अतः जिह्वा के स्वाद को छोड़ना रसपरित्याग का तप है। सामान्यतः इसके नौ भेद कहे गये हैं—

(1) प्रणीत रस परित्याग—जिसमें घी, दूध आदि की बूँदें टपक रही हों, ऐसे आहार का त्याग करना।

(2) आयंबिल—नमक मसाला व विगय रहित रोटी—भात आदि को धोवण या उष्ण पानी में डालकर आहार करना आयम्बिल कहलाता है।

(3) आयामसिक्थभोजी—चावल आदि के पानी में पड़े हुए धान्य आदि का आहार करना।

(4) अरसाहार—नमक, मिर्च आदि मसालों के बिना रस रहित आहार करना।

(5) विरसाहार—जिनका रस चला गया हो, ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

(6) अन्ताहार—जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते हैं, ऐसे चने-चबीने आदि खाना।

(7) प्रान्ताहार—बचा हुआ आहार करना।

(8) रूक्षाहार—बहुत रूखा-सूखा आहार करना। इसे तुच्छाहार भी कहा गया है अर्थात् सुत्व रहित तुच्छ एवं निःसार भोजन करना।

(9) निर्विगय—तेल, गुड़, घी आदि विगयों से रहित आहार करना।

मैं रस-परित्याग तप को रसना-संयम के रूप में देखता हूँ, इसलिए मानता हूँ कि घी आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं

करना चाहिए, क्योंकि प्रायः करके रसों का सेवन मनुष्यों के मन में काम का उद्दीपन करता है। वैसे उद्दीप्त मनुष्य की तरफ काम वासनाएँ ठीक उसी तरह से दौड़ी हुई चली आती हैं, जिस तरह स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की तरफ पक्षी दौड़े आते हैं। पौष्टिक एवं रसीला भोजन विषय वासनाओं को उत्तेजना देता है, अतः संयम—साधक को ऐसे भोजन का सदा त्याग रखना चाहिए। सांसारिकता का त्याग करनेवाला साधु अगर स्वादवश स्वादिष्ट भोजनवाले घरों में भिक्षा के लिए जाता है, तो मानना होगा कि वह साधुत्व से बहुत दूर है। वह साधु नहीं, स्वादु होगा।

रस परित्याग तप उसे कहा गया है, जब साधु या साध्वी अशनादि का आहार करते समय, स्वाद के लिए ग्रास को मुँह में बांधी ओर से दाहिनी ओर तथा दाहिनी ओर से बांधी ओर न करे। इस प्रकार स्वाद का त्याग करने से साधु आहार विषयक लघुता—निश्चिन्तता प्राप्त करता है। जिह्वा को वश में रखनेवाले अनासक्त साधु को सरस आहार में लोलुपता का त्याग करना चाहिए तथा स्वाद के लिए नहीं, संयम के निर्वाह मात्र के लिए ही भोजन करना चाहिए। स्वाद रहित नीरस भिक्षा पाकर भी साधु को उस की हीलना नहीं करनी चाहिए। जैसे पहिये को बराबर गति में रखने के लिए धुरी में तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार शरीर को संयम यात्रा के योग्य रखने के लिए ही साधु को आहार करना चाहिए। साधु कभी भी न स्वाद के लिए भोजन करे, न रूप के लिए, न वर्ण के लिए और न ही बल के लिए भोजन करे।

मेरे विचार से रसना जय ही आत्मजय का मूलाधार बनता है। इसी दृष्टि से रसनेन्द्रिय पर नियंत्रण साधने के लिए आहार सम्बन्धी तपों का विविध एवं विस्तृत प्रकार से निरूपण किया गया है। आहार जितना मित और सादा होता है, उतना ही सादा और सीधापन विचारों में रहता है तथा देह—मोह भी घेरता नहीं। रस परित्याग तप की कठिनता का यही कारण है। स्वाद को जीत लेने से आचरण सम्बन्धी कई जटिल समस्याओं का स्वतः ही समाधान निकल आता है और संयम साधना को बहुत बल मिलता है।

देह—मोह से दूर

देह—मोह को सर्वथा दूर कर लेने का कठिन तप मैं मानता हूँ छटे प्रकार के कायाक्लेश तप को। शास्त्र—सम्मत रीति से शरीर को कष्टक्लेश पहुँचाना कायाक्लेश तप है। उग्र वीरासन आदि आसनों का सेवन करना, केशलोच करना, शरीर की शोभा—शुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश तप के अनेक प्रकार होते हैं।

यों कायाक्लेश तप के तेरह भेद कहे गये हैं—

(1) स्थानस्थितिक (ठाणट्टिए)—एक स्थान पर टहरकर कायोत्सर्ग करना ध्यानावस्थित होकर रहना।

(2) स्थानातिग (ठाणाइये)—आसन विशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(3) उत्कटुकासनिक (उक्कडुयासणिए)—उकडु आसन से बैठना।

(4) प्रतिमास्थायी (पडिमट्टाई)—एक मास की या दो मास की पड़िमा आदि स्वीकार करके विचरण करना।

(5) वीरासनिक (वीरासणिए)—सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो अवस्था रहती है, वह वीरासन कहलाता है। ऐसे आसान से बैठना।

(6) नैषेधिक (नेसज्जिए)—निषद्या (आसन विशेष) से भूमि पर बैठना।

(7) दंडायतिक (दंडायए)—लम्बे डंडे की तरह भूमि पर लेटकर तप आदि करना।

(8) लुगंडशायी—इस आसन में पैरों की दोनों एड़ियाँ और सिर पृथ्वी पर लगते हैं तथा बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहता है अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहता है और बाकी सिर—पैर आदि सारा शरीर जमीन से ऊपर रहता है। इस प्रकार के आसन से तप करना।

(9) आतापक (आयावए)—शीतकाल में शीत में बैठकर और ऊष्ण काल में सूर्य की प्रचंड गर्मी में बैठकर आतापना लेना। इस आतापना के तीन भेद हैं : (1) निष्पन्न—लेट कर ली जानेवाली

आतापना। तीन प्रकार—(अ) अधोमुखशायिता—नीचे की ओर मुख करके सोना। (ब) पार्श्वशायिता— पार्श्वभाग—पसवाड़े से सोना व (स) उत्तानशायिता—समचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना। (2) अनिष्पन्न—बैठकर आसन—विशेष से आतापना लेना। तीन प्रकार—(अ) गोदोहिका—गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसन होता है, वह गोदोहिका आसन है। इस प्रकार के आसन से बैठकर आतापना लेना। (ब) उत्कृटासनता—उत्कृटासना—उकडु आसन से बैठकर आतापना लेना (स) पर्यकासनता—पलाथी मारकर बैठना। (3) ऊर्ध्वस्थित—खड़े रहकर आतापना लेना। तीन प्रकार—(अ) हस्तिशौंडिका—हाथी की सूंड की तरह दोनों हाथों को नीचे की ओर सीधे लटकाकर खड़े रहना और आतापना लेना। (ब) एकपादिका—एक पैर पर खड़े रहकर आतापना लेना। (स) समपादिका—दोनों पैरों को बराबर रखकर आतापना लेना। इन निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के तीन भेदों के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और भी हो जाते हैं।

(10) अप्रावृतक (अवाडड़ए)—खुले मैदान में आतापना लेना।

(11) अकंडूयक—शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।

(12) अनिष्ठीवक—निष्ठीवन (थूकना आदि) न करते हुए आतापना लेना।

(13) धुतकेशश्मश्रुलोम (धुयकेसमंसुलोम)—दाढ़ी—मूँछ आदि के केशों को न संवारते हुए अर्थात् अपने शरीर की विभूषा को छोड़कर आतापना लेना।

मैं कायाक्लेश तप का मूल अभिप्राय यह समझता हूँ कि विविध प्रकार से शरीर को विवेकपूर्वक ऐसे कष्ट दिये जायें, जिससे एक ओर तो उसकी कष्ट सहिष्णुता बढ़ जाये और दूसरी ओर देह—मोह की वृत्ति दुर्बल होती जाये। ऐसा कठिन तप आत्मबल की अपूर्व निष्ठा के साथ ही सफल बनाया जा सकता है। मैं ऐसे तप की आराधना करूँगा और शरीर के प्रति अपने प्रगाढ़ ममत्व को मन्दतर बनाता जाऊँगा।

तप जितेन्द्रियता का

मेरा विचार है कि देह मोह की मन्दता के साथ इन्द्रियों की

उद्दीपक शक्ति स्वयं ही नष्ट होने लगती है। फिर भी जिस प्रकार कछुआ अपने को सुरक्षित करने के लिए अपने ढालनुमा ढांचे में संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार से इन्द्रियों का गोपन करना आवश्यक होता है, ताकि काम-भोगों की वृत्तियाँ उन्हें किसी प्रकार का आघात न पहुँचा सकें। इन्द्रियों का गोपन करना ही छट्टे प्रकार का प्रतिसंलीनता का तप कहलाता है और इसी तप की सम्यक् आराधना से जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय-जयी बना जा सकता है। वस्तुतः इन्द्रिय-जयी ही आत्म-जयी होता है।

प्रतिसंलीनता तप के चार भेद बताये गये हैं :-

(1) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता-शुभ अथवा अशुभ विषयों अर्थात् भोग-वृत्तियों में रागद्वेष के भावों को छोड़कर इन्द्रियों को वश में करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का तप कहलाता है। शुभ विषय में राग न हो तथा अशुभ विषय में द्वेष नहीं आये, तो तटस्थ वृत्ति का विकास होगा एवं जीवन में समभाव प्रभावी बनेगा।

(2) कषाय प्रतिसंलीनता-क्रोधादि कषायों का अपने भावों में उदय न होने देना तथा जो काषायिक भाव उदय में आ गये हों, उन्हें विफल कर देना कषाय प्रतिसंलीनता का तप है। जब इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न सफल बनने लगता है, तो कषाय भावों का निरोध भी अधिक श्रमसाध्य नहीं रहता।

(3) योग प्रतिसंलीनता-अकुशल मन, वचन, काया के व्यापारों को रोकना तथा कुशल व्यापारों में उदीरणा (प्रेरणा) करना योग प्रतिसंलीनता का तप होता है। अशुभता अकुशलता होती है तथा शुभता कुशलता, अतः अशुभ व्यापार वृत्ति से मन, वचन, काया को शुभ व्यापार वृत्ति में लाना तथा उन्हें वहीं बनाये रखना इस तप का मुख्य उद्देश्य होता है।

(4) विविक्त शय्यासनता-स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित एकान्त स्थान में रहना यह विविक्त शय्यासनता का प्रतिसंलीनता तप होता है। इसका अभिप्राय यह है कि काम संसर्गजनितता का कोई दोष तपाराधक को नहीं लगे।

इस तप के ये मुख्य चार भेद होते हैं, जो अवान्तर से तेरह भी

बताये गये हैं :- इंद्रिय प्रति संलीनता के पाँच—(1) श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—श्रोत्रेन्द्रिय को उसके विषयों की ओर जाने से रोकना तथा श्रोत्र द्वारा गृहीत विषयों में राग द्वेष न करना। (2) चक्षुरिन्द्रिय प्रतिसंलीनता—आँखों को उनके विषयों की ओर प्रवृत्ति करने से रोकना एवं आँखों द्वारा ग्रहण किये गये विषयों में राग अथवा द्वेष के भाव नहीं लाना। (3) घ्राणेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—गंध के विषयों का निरोध एवं तटस्थता। (4) रसनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—रसना के विषयों पर निग्रह रखना तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ पर द्वेष नहीं करना। (5) स्पर्शेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—स्पर्श विषयों में प्रवृत्त नहीं होना तथा राग—द्वेष नहीं करना। कषाय प्रतिसंलीनता के चार (6) क्रोध प्रतिसंलीनता—उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना। (7) मान प्रतिसंलीनता—मान कषाय पर नियंत्रण रखना अर्थात् अहंकार को निष्फल कर देना। (8) माया प्रतिसंलीनता—माया के अशुभ भावों को रोकना व विफल करना। (9) लोभ प्रतिसंलीनता—उदयित लोभ को निष्फल कर देना। योग प्रतिसंलीनता के तीन (10) मन प्रतिसंलीनता—मन की अकुशल प्रवृत्ति को रोकना, कुशल प्रवृत्ति कराना तथा चित्त को एकाग्र—स्थिर बनाना। (11) वचन प्रतिसंलीनता—अकुशल वचन को रोकना, कुशल वचन बोलना तथा वचन को स्थिर करना। (12) काय प्रतिसंलीनता—अच्छी तरह समाधिपूर्वक शान्त होकर हाथ पैर संकुचित करके कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय होकर आलीन—प्रलीन अर्थात् स्थिर होना काय प्रतिसंलीनता है। (13) विविक्त शय्यासनता—स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित स्थान में निर्दोष शयन आदि उपकरणों को स्वीकार करके रहना। आराम, उद्यान आदि में संथारा अंगीकार करना भी विविक्त शय्यासनता है।

मैं चिन्तन करता हूँ कि प्रतिसंलीनता तप का आचरण बहुत महत्वपूर्ण है। काम—भोगों के प्रति आकृष्ट होनेवाली इन्द्रियाँ होती हैं और उनकी लिप्तता के साथ ही कषायों की उत्पत्ति होती है। असल में विषय के साथ कषाय जुड़ी हुई रहती है और उससे राग—द्वेष के घात—प्रतिघात शुरू हो जाते हैं। इनके कुप्रभाव से त्रिविध योग व्यापार की शुभता समाप्त होने लगती है। इस प्रकार जहाँ यानि कि जिस आत्मा में विषय—कषाय का प्राबल्य हो जाता है तथा योग व्यापार

निरन्तर अशुभता में भ्रमित होता रहता है, उस आत्मा का अधःपतन होता रहता है। इस दृष्टि से मैं प्रतिसंलीनता तप के महत्व को आँकता हूँ कि इसकी कठिन आराधना से इन्द्रियों, कषायों तथा योगों पर सफल नियंत्रण साधने का यत्न किया जाता है।

मेरी धारणा बनती है कि प्रतिसंलीनता का तप वास्तविक रूप में जितेन्द्रियता का तप होता है, जो कामांग रूप इन्द्रियों को वश में करता है, तो उस निग्रह के प्रभाव से कषायों एवं योग व्यापारों पर जागृत आत्मा का नियंत्रण स्थापित करता है। जब विषय और कषाय मन्दतम हो जाते हैं तथा मन, वचन काया का योग व्यापार अधिकांशतः शुभता में ही रमण करता है, तब आत्म-विकास की महायात्रा का एक महत्वपूर्ण चरण सम्पन्न हो गया है—ऐसा मानना चाहिए।

ये उपरोक्त छः प्रकार के तप मुक्ति-प्राप्ति के बाह्य अंग रूप हैं। इन्हें बाह्य द्रव्य आदि की अपेक्षा रहती है तथा ये तप प्रायः करके बाह्य शरीर को ही अधिक मात्रा में तपाते हैं। इन तपों की आराधना का शरीर पर विशेष असर पड़ता है तथा शरीर में आत्मिक ओज समा जाता है जो तेज रूप में बाहर परिलक्षित होता है। इन छः प्रकारों को बाह्य तप इसलिए भी कहा गया है कि इन तपों का सफल आराधक लोक में तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। वैसे आभ्यन्तर एवं बाह्य उभय तप-विशेष परस्पर सापेक्ष है। बाह्य तप में आभ्यन्तर तप गौण भाव में रहता है और आभ्यन्तर तप में बाह्य गौण भाव में। एक दूसरे का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। उभय प्रकार के तप यथास्थान आत्म-शुद्धि में सहायक है। शब्दश्रवण-मात्र से एक दूसरे को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

प्रायश्चित्त से पाप शुद्धि

प्रायश्चित्त—यह तपों के आभ्यन्तर वर्ग का पहला तथा पूरे क्रम में सातवाँ तप है। मूलतः आभ्यन्तर तपों का सम्बन्ध आत्मा के भावों से जुड़ा रहता है तथा इनका आचरण अधिकांशतः भीतर ही भीतर चलता है। प्रायश्चित्त दो शब्दों से मिलकर बना है—प्रायः अर्थात् पाप और चित्त का अर्थ है शुद्धि अर्थात् पापों से शुद्धि का नाम प्रायश्चित्त है और इस कारण यह आभ्यन्तर तप है। जिससे मूल गुण एवं उत्तर गुण

विषयक अतिचारों से मलिन तथा अनादिकालीन पापस्थानों से मलिन आत्मा अपनी आत्म शुद्धि कर ले—उसे प्रायश्चित तप कहा है। इस तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ संलग्न पाप रूपी मैल धुल जाता है तथा उसका स्वरूप शुद्ध हो जाता है।

मैं सोचता हूँ कि यह प्रायश्चित का तप बड़ा प्रभावकारी होता है, क्योंकि मनुष्य अनजाने में भी भूलें करता है, तो जानकर भी भूलें करता है और उसका प्रमुख कारण होता है—सांसारिक काम—भोगों का आकर्षण। यह आकर्षण विविध रूप से कषायों को जगाता है और मनुष्य को प्रमादग्रस्त बनाता है। इस रूप में वह भूलें करता है, किन्तु भूलें करके भी यदि वह बाद में शुद्ध हृदय से प्रायश्चित कर ले और आगे से वैसी भूलें न करने का संकल्प ले ले, तो उसकी आत्म—शुद्धि हो जाती है। शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया में उसकी करणीयता बनी रहे, तो यह पाप मुक्त हो सकता है। प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर उसे दूर करने के लिए जो आत्मालोचना एवं तपस्या विधिपूर्वक की जाती है, वही प्रायश्चित का तप है। इसके आठ भेद बताये गये हैं :-

(1) आलोचना के योग्य अर्थात् जिन पापपूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की शुद्धि अपनी आलोचना के द्वारा हो जाये।

(2) प्रतिक्रमण के योग्य अर्थात् जिनके शुद्धि करण के लिए प्रतिक्रमण करना पड़े और उन पापपूर्ण वृत्तियों—प्रवृत्तियों को पुनः न दोहराने का संकल्प लिया जाये।

(3) आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य अर्थात् उनके लिए आत्मालोचना एवं पुनः न दोहराने का संकल्प दोनों करने हों।

(4) विवेक अशुद्ध भक्त पानादि परठने योग्य अर्थात् विवेक को अशुद्ध बनानेवाले खाद्य व पेय पदार्थों को परठा दिया जाये।

(5) कायोत्सर्ग के योग्य अर्थात् देह—मोह को सर्वथा विसारकर ध्यानावस्था में ठहरा जाये।

(6) तप के योग्य अर्थात् उनके लिए प्रायश्चित तपश्चरण के साथ किया जाये।

(7) दीक्षा पर्याय का छेद करने योग्य अर्थात् पापपूर्ण वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों की अशुभता ऐसी गहरी हो कि साधु के दीक्षा—काल में

दंडस्वरूप कमी की जाये।

(8) मूल के योग्य अर्थात् फिर से महाव्रत लेने के योग्य। वह अशुभता अति प्रगाढ़ हो, जिससे साधुत्व ही समाप्त हो जाये। इसके दंडस्वरूप जो प्रायश्चित्त लिया जाता है, वह नयी दीक्षा के रूप में लिया जाता है।

अन्य अपेक्षा से प्रायश्चित्त तप के पचास भेद भी किये गये हैं :-

(1) मूल प्रायश्चित्त दस प्रकार का-आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य, विवेक के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, छेद के योग्य, मूल के योग्य, अणवद्वप्पारिहे (तप के बाद दुबारा दीक्षा देने योग्य) पारंचियारिहे (गच्छ से बाहर करने योग्य)।

(2) प्रायश्चित्त देनेवाले के दस गुण-वह आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, अपव्रीडक (लज्जित शिष्य की मधुरता से लज्जा दूर करके आलोचना करानेवाला), प्रकुर्वक (आलोचित अपराध का प्रायश्चित्त देकर अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ), अपरिस्रावी (आलोचना करनेवाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करनेवाला), निर्यापक (अशक्त साधु को थोड़ा-2 प्रायश्चित्त देकर निर्वाह करनेवाला), अपायदर्शी (आलोचना नहीं लेने में परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखानेवाला), प्रियधर्मा (धर्म प्रेमी) तथा दृढधर्मा हो।

(3) प्रायश्चित्त लेनेवाले के दस गुण-वह जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, क्षमावान, दान्त (इन्द्रियों का दमन करनेवाला), अमायी (निष्कपटी) तथा अपश्चातापी हो।

(4) प्रायश्चित्त के दस दोष- आकंपयित्ता (प्रसन्न होने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे-यह सोचकर उसे सेवा से प्रसन्न करके फिर आलोचना करना), अद्वमाणइत्ता (बिल्कुल छोटा अपराध बताने से थोड़ा दंड देंगे-यह सोचकर अपराध को छोटा करके बताना), दिद्वं (जिस अपराध को आचार्य ने शुरू किया हो, उसी की आलोचना करना), वापकं (सिर्फ बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करना), सुहुम (जो अपने छोटे-छोटे अपराधों की भी आलोचना कर देता है, वह बड़े

अपराधों को कैसे छोड़ सकता है—यह विश्वास पैदा करने के लिए सिर्फ छोटे-छोटे अपराधों की आलोचना करना), छिन्न (अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न स्थान में आलोचना करना), सद्दालुअयं (दूसरों को सुनाने के लिए जोर-जोर से आलोचना करना), बहुजण (एक ही अतिचार की कई गुरुओं के सामने आलोचना करना), अव्यक्त (साधु को किस अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है—इसका पूरा ज्ञान नहीं हो, उसके सामने आलोचना करना) एवं तस्सेवी (जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करनेवाले आचार्य के पास आलोचना करना।)

(5) दोष प्रतिसेवना के दस कारण—दर्प, अहंकार, प्रमाद, अनाभोग (अज्ञान), आतुर (पीड़ा की व्याकुलता), आपत्ति (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी), संकीर्ण (संकुचित स्थान अथवा शंकित दोष), सहसाकार (अकस्मात्), भय, प्रद्वेष, विमर्श।

प्रायश्चित्त का पहला उद्देश्य जब पाप शुद्धि होता है, तो मैं मानता हूँ कि इस तप की आराधना पूर्ण शुद्ध हृदय से की जानी चाहिए। प्रायश्चित्त के साथ मायाचार कतई योग्य नहीं होता। किन्तु ऐसा भी होता है कि मनुष्य हृदय में कपट को स्थान देकर बाहर निम्न कारणों से प्रायश्चित्त करने का ढोंग दिखाता है :- (1) निन्दा और अपमान से बचने के लिए, (2) उपपात की गर्हा बचाने के लिए, (3) मनुष्य जन्म की गर्हा बचाने के लिए, (4) विराधक न समझे जाने के लिए, (5) आराधक होना दिखाने के लिए, (6) आलोचना करना दिखाने के लिए, (7) अपने को दोषी न दिखाने के लिए तथा (8) मायावी नहीं समझें—इस भय के लिए। किन्तु ऐसा भी होता है कि मनुष्य मायावी आचरण करते हुए भी उसकी कैसी भी आलोचना नहीं करता, दोष के लिए प्रतिक्रमण नहीं करता, आत्मसाक्षी से निन्दा नहीं करता, गुरु के समक्ष आत्मगर्हा नहीं करता, उस दोष से निवृत्त नहीं होता, शुभ विचार रूपी जल के द्वारा अतिचार रूपी कीचड़ को नहीं धोता, भूल को दुबारा नहीं करने का निश्चय नहीं करता तथा दोष के लिए उचित प्रायश्चित्त नहीं लेता। उसकी ऐसी प्रायश्चित्तहीन मनोवृत्ति के ये आठ कारण बताये गये हैं, जो त्याज्य हैं—(1) वह यह सोचता है कि जब मैंने अपराध कर लिया है, तो अब उसका प्रायश्चित्त क्या करना? (2) अब

भी मैं उस अपराध को कर रहा हूँ और निवृत्ति नहीं, तो आलोचना कैसी? (3) मैं उस अपराध को फिर करूँगा, तब आलोचना क्यों? (4) आलोचना करने से अपकीर्ति होगी, वरना अपराध को कौन जानता है? (5) अवर्णवाद या अपयश (चारों ओर) होगा। (6) पूजा—सत्कार मिट जायेगा। (7) कीर्ति मिट जायेगी। (8) यश मिट जायेगा।

मैं अपने अपराध को अपराध समझते हुए भी प्रायश्चित न करूँ अथवा मायाचार के साथ प्रायश्चित करूँ—यह कतई योग्य नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित तभी सफल होता है, जब शुद्ध हृदय से संचित पाप का छेदन किया जाये। मेरा प्रायश्चित—तप का कृत्य अपने अपराध से मलिन चित्त को शुद्ध बनानेवाला होना चाहिए। चित्त की अशुद्धि न मिटे और प्रायश्चित का मात्र ढोंग किया जाये—उससे हृदय की अशुद्धि और अधिक बढ़ जाती है। मैं अपनी चित्त—शुद्धि के लिए निम्न रूप में चार प्रकार से प्रायश्चित करता हूँ—(1) ज्ञान प्रायश्चित—पाप को छेदने एवं चित्त को शुद्ध करनेवाला होने से ज्ञान ही प्रायश्चित रूप है—ऐसा चिन्तन करना ज्ञान प्रायश्चित होता है। ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिए विधिसम्मत आलोचना करना इस तप की आराधना करना है।

(2) दर्शन प्रायश्चित—इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध में आलोचना करना।

(3) चारित्र प्रायश्चित—इसी प्रकार चारित्र के सम्बन्ध में आलोचना करना।

(4) व्यक्तकृत्य प्रायश्चित—गीतार्थ मुनि छोटे—बड़े का विचार कर जो कुछ करता है, वह सभी पाप—विशोधक हैं। इसलिए व्यक्त अर्थात् गीतार्थ का जो कृत्य है, वह व्यक्तकृत्य प्रायश्चित होता है।

प्रायश्चित के अन्य प्रकार से भी चार भेद कहे गये हैं—

(1) प्रतिसेवना प्रायश्चित—निषिद्ध अथवा अकृत्य का सेवन करना प्रतिसेवना कहलाता है, उसका जो आलोचना रूप प्रायश्चित होता है, वह प्रतिसेवना प्रायश्चित है।

(2) संयोजना प्रायश्चित—एक जातीय अतिचारों के मिल जाने को संयोजना कहते हैं। जैसे कोई साधु शय्याँतर पिंड लाया, वह भी

गीले हाथों से और उसे भी कोई सामने लेकर आया तथा वह भी आधाकर्मी। अतः जुड़े हुए इन सभी अतिचारों का प्रायश्चित्त संयोजना प्रायश्चित्त है।

(3) आरोपणा प्रायश्चित्त—एक अपराध का प्रायश्चित्त करने पर बार—बार उसी अपराध को सेवन करने से विजातीय प्रायश्चित्त का आरोप करना आरोपण प्रायश्चित्त है। जैसे एक अपराध के लिए पाँच दिन (उपवास) का प्रायश्चित्त आया। फिर उसी के सेवन करने का दस दिन का। फिर उसको सेवन करने का पन्द्रह दिन का। इस प्रकार छः मास तक लगातार प्रायश्चित्त देना। (छः मास से अधिक तप का प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है।)

(4) परिकुंचना प्रायश्चित्त—द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना या उसे दूसरा रूप देना परिकुंचना है। इसका प्रायश्चित्त परिकुंचना प्रायश्चित्त कहलाता है।

किसी पर झूठा कलंक लगाने को अतीव ही जघन्य माना गया है, बल्कि उसके लिए उतने ही प्रायश्चित्त का निर्देश दिया गया है कि जितना स्वयं उस कृत्य को करने से लिया जाना चाहिए। निम्न छः बातों में झूठा कलंक लगानेवाले को उतना ही प्रायश्चित्त आता है, जितना उस दोष को स्वयं वास्तविक सेवन करने पर आता है—(1) हिंसा न करने पर भी किसी व्यक्ति पर हिंसा का दोष लगाना। (2) झूठ न बोलने पर भी झूठ बोलने का दोष लगाना। (3) चोरी न करने पर भी चोरी का दोष लगाना। (4) ब्रह्मचर्य का भंग नहीं करने पर भी दुराचार का दोष लगाना। (5) झूठमूठ कह देना कि कोई हिंजड़ा है। (6) झूठमूठ कह देना कि कोई क्रीत दास है।

विनय : धर्म का मूल

मेरी सुदृढ़ आस्था है कि विनय धर्म का मूल होता है— विनय की जड़ पर ही आत्म—धर्म फूलता—फलता है। मैं विनय का अर्थ लेता हूँ, विशेष रूप से झुकना नम्र बनना। क्यों झुकना? इसलिए कि विनय रूप क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को अलग करने का पुष्ट हेतु उत्पन्न करना। इसमें सम्मानीय, गुरुजनों के आने पर खड़ा होना,

हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि ऐसे सभी शुभ कार्य सम्मिलित हैं।

मैं मानता हूँ कि विनीत पुरुष ही संयमवन्त होता है और जो विनय रहित होता है, वह न तो संयम का सम्यक् रीति से पालन कर सकता है और न ही तप का आराधन। जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगित तथा आकारों को समझता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है। जैसे संसार में सुगंध के कारण चन्दन, सौम्यता के कारण चंद्रमा और मधुरता के कारण अमृत प्रिय होता है, उसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य लोकप्रिय बन जाता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष विनय का माहात्म्य समझकर विनम्र बनता है। इससे लोक में इसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानों का उसी प्रकार आधार रूप होता है, जिस प्रकार यह पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है। विनीत शिष्य क्रोधी गुरु को भी अक्रोधी बना देता है।

विनय के मूल सात भेद बताये गये हैं जिसके अवान्तर से 134 भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(1) ज्ञान विनय, (2) दर्शन विनय, (3) चारित्र विनय, (4) मन विनय, (5) वचन विनय, (6) काया विनय तथा (7) लोकोपचार विनय। 134 अवान्तरभेद (1) ज्ञान विनय के पाँच—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान। (2) दर्शन विनय के दो—शुश्रूषा व अनाशतना। शुश्रूषा विनय के दस भेद—अभ्युत्थान, आसनाभिग्रह, आसन—प्रदान, सत्कार, सम्मान, कीर्तिकर्म, अंजलिप्रग्रह, अनुगमनता, पर्युपासनता व प्रतिसंसाधनता। अनाशातना विनय के 45 भेद—अरिहन्त, अरिहन्त—प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक, क्रियावान, मतिज्ञानवान, श्रुतज्ञानवान, अवधिज्ञानवान, मनःपर्ययज्ञानवान एवं केवलज्ञानवान—इन पन्द्रह की आशातना नहीं करने यानि इनका विनय करने, भक्ति करने और गुणग्राम करने रूप 45 भेद हो गये। (3) चारित्र विनय के पाँच भेद—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात चारित्र—इन पाँचों प्रकार के चारित्रधारियों का विनय करना। (4) मन विनय के दो भेद—प्रशस्त मन एवं अप्रशस्त मन। अप्रशस्त मन विनय के बारह भेद—सावद्य, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, कठोर (फरूस) आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी एवं

भूतोपघातकारी। इनसे विपरीत प्रशस्त मन के भी बारह भेद होते हैं। (5) इसी प्रकार विनय के भी प्रशस्त-अप्रशस्त के दो भेद तथा दोनों के क्रमशः बारह-बारह भेद से चौबीस भेद होते हैं। (6) काय विनय के भेद-प्रशस्त एवं अप्रशस्त। प्रशस्त काय विनय के सात भेद-सावधानी से मनन करना, ठहरना, बैठना, सोना, लाँघना, बारबार लाँघना तथा सभी इन्द्रियों व योगों की प्रवृत्ति करना। इसके विपरीत अप्रशस्त काय विनय के भी सात भेद हैं, जो सावधानी की जगह आसावधानीपूर्वक होते हैं। (7) लोकोपचार विनय के सात भेद-अभ्यासवृत्तिता (गुरु आदि के पास रहना), परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि की इच्छा के अनुकूल कार्य करना), कार्य हेतु (गुरु के कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करना), कृत प्रतिक्रिया (अपने लिए किये उपकार का बदला चुकाना), आर्त गवैषणा (बीमार साधुओं की सार-संभाल करना), देश कालानुज्ञता (अवसर देखकर कार्य करना) तथा सर्वार्थाप्रतिलोमना (सब कार्यों में अनुकूल प्रवृत्ति करना)।

इस प्रकार विनय को स्व-पर कल्याण की प्राप्ति का आधार एवं श्रेष्ठ तप मानकर जो विनय की प्रधान रूप से आराधना करता है, वह विनयवादी कहलाता है। विनयवादी 32 प्रकार के होते हैं-देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता-इन आठों का मन, वचन, काया एवं दान रूप प्रकारों से विनय बत्तीस रूप में होता है। किन्तु जो एकान्त रूप से विनय को ही आधार मानकर विनयवादी कहलाना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है, क्योंकि विनय तप की प्रधानता भी एक अपेक्षा से कही जाती है, एकान्त रूप से नहीं। इसी प्रकार कोरी क्रिया ही सार्थक नहीं बनती-ज्ञान और क्रिया का सफल संयोग होना चाहिए। अतः विनयी साधक को अनेकान्तवादी दृष्टिकोणवाला एवं सम्यक् दृष्टि होना चाहिए।

आचार्य भी अपने विनयी शिष्य को चार प्रकार की प्रतिपत्ति सिखाकर उन्नत होता है, जो निम्नानुसार विनय प्रतिपत्ति रूप कहलाती है -

(1) आचार्य विनय चार प्रकार का होता है- (अ) संयम समाचारी संयम के भेदों का ज्ञान करना, सत्रह प्रकार के संयम का

स्वयं पालन करना तथा संयम में उत्साह देना व संयम में शिथिल होनेवाले को स्थिर करना। (ब) तप समाचारी-तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का ज्ञान करना, स्वयं तप करना व तप करनेवाले को उत्साह देना तथा तप में शिथिल होते हों, तो उन्हें स्थिर करना। (स) गण समाचारी-गण के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करते रहना, सारणा-वारणा आदि द्वारा भली-भाँति रक्षा करना, गण में स्थित रोगी, बाल, वृद्ध एवं दुर्बल साधुओं की यथोचित व्यवस्था करना। (द) एकाकी विहार समाचारी-एकाकी विहार प्रतिमा का भेदोपभेद सहित सांगोपांग ज्ञान करना, उसकी विधि को ग्रहण करना, स्वयं एकाकी विहार प्रतिमा को अंगीकार करना एवं दूसरे को ग्रहण करने हेतु उत्साहित करना। इस एकाकी विहार प्रतिमा को धारण करनेवाले पूर्वधर मुनि तथा क्षमा आदि यति धर्मों से सम्पन्न हों, साथ ही अनुकूल-प्रतिकूल परीषह-उपसर्गों को सहन करने में परिपक्व एवं स्थिरचित्त हो, वह किसी भी परिस्थिति में सिद्धांत एवं सच्चरित्र निष्ठा से किंचित् भी विचलित न होने की सामर्थ्यवाला हो, अतिशय ज्ञानी-मुनि की आज्ञा से ही प्रतिमा ग्रहण की जाती है। (2) श्रुतविनय-चार प्रकार का है - (अ) मूल सूत्र पढ़ाना, (ब) अर्थ पढ़ाना, (स) हित वाचना देना अर्थात् शिष्य की योग्यता के अनुसार मूल व अर्थ पढ़ाना एवं (द) निःशेष वाचना देना अर्थात् नय, प्रमाण आदि द्वारा व्याख्या करते हुए शास्त्र की समाप्ति-पर्यन्त वाचना देना। (3) विक्षेपणा विनय चार प्रकार का होता है - (अ) धर्म नहीं जानने तथा सम्यक् दर्शन का लाभ नहीं लेनेवाले को प्रेमपूर्वक सम्यक् दर्शन रूप धर्म दिखाकर सम्यक्त्वी बनाना, (ब) जो सम्यक्त्वी है, उसे सर्वविरति रूप चारित्र धर्म की शिक्षा देकर सहधर्मी बनाना, (स) जो धर्म से भ्रष्ट हों, उन्हें धर्म में स्थिर करना तथा (द) चारित्र धर्म की जैसे वृद्धि हो, वैसी प्रवृत्ति करना।

(4) भेद निर्घातन विनय चार प्रकार का होता है - (अ) मीठे वचनों से क्रोधी के क्रोध को शान्त करना, (ब) दोषी पुरुष के दोषों को दूर करना, (स) उचित कांक्षा को निवृत्त करना तथा (द) क्रोध, दोष, कांक्षा आदि में प्रवृत्ति न करते हुए आत्मा को सुमार्ग पर लगाना।

इस प्रकार के सुकृत्यों द्वारा आचार्य अपने शिष्य की विनीतता का ऋण चुकाता है।

विनय तप का उपर्युक्त विश्लेषण मुझे प्रेरित करता है कि मैं इस तप की विशुद्ध हृदय से आराधना करूँ। मैं गुरु सेवा में रहते हुए अहंकार, क्रोध, छल तथा प्रमाद का त्याग करूँ और अपने गुरु को मन्द बुद्धि, अल्पवयस्क और अल्पज्ञ जानकर भी उनकी निन्दा न करूँ, क्योंकि जो अविनीत शिष्य गुरु की भारी आशातना करता है, वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। ज्ञान में न्यूनाधिक होने पर भी मैं सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनों का अपमान नहीं करूँ, क्योंकि आचार्य की आशातना करना जलती हुई आग पर पैर रखकर चलने के समान होता है। मैं अपने आचार्य को प्रसन्न रखने के लिए सदा प्रयत्नशील रहूँ, जिससे मुझे अनाबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। मैं अपना कर्तव्य समझूँ कि गुरु के पास आत्म-विकास करनेवाले धर्मशास्त्र की शिक्षा लूँ, उनकी पूर्ण विनय भक्ति करूँ, हाथ जोड़ सिर नमाकर नमस्कार करूँ तथा मन, वचन, काया से उनका सदा उचित सत्कार करूँ। मैं आचार्य द्वारा प्रदत्त उपदेशों को सुनकर अप्रशस्त भाव से उनकी सेवा करूँ, तो अवश्य मुझे सद्गुणों की प्राप्ति होगी तथा एक दिन सिद्धि की भी प्राप्ति हो सकेगी।

मैं वीतराग देवों की वाणी को आत्मसात् करता हूँ, तो विनय-तप के आचारण के प्रति अपार आस्था जागती है और जानता हूँ कि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका उत्कृष्ट फल। विनय से ही कीर्ति श्रुत और श्लाघा वगैरह सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है। संसार में विनीत स्त्री और पुरुष सुख भोगते हुए, समृद्धि-सम्पन्न तथा महान यश कीर्तिवाले देखे जाते हैं। मैं भी विनय को अपनी समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में रमा लेना चाहता हूँ। मैं अपनी शय्या, गति, स्थान और आसन आदि सब नीचे ही रखूँ, आचार्य को नीचे झुककर पैरों में नमस्कार करूँ तथा नीचे झुककर विनयपूर्वक हाथ जोड़ूँ। मैं गुरु के मनोगत अभिप्रायों तथा उनकी सेवा करने के समुचित उपायों को नाना हेतुओं से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जानकर समुचित प्रकार से उनकी सेवा करूँ। मुझे आशा है कि यदि गुरु की आज्ञानुसार चलूँगा तथा धर्म और अर्थ का ज्ञाता बनकर विनय में चतुर होऊँगा, तो संसार रूप दुरूतर सागर को पार करके एवं कर्मों का क्षय करके उत्तम गति प्राप्त कर सकूँगा।

मैं आप्त-पुरुषों द्वारा उपदेशित विनीत के निम्न पन्द्रह लक्षणों का चिन्तन करते हुए अपने गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करने की भावना रखता हूँ—

(1) विनीत गुरुजनों के सामने नमकर रहता है, नीचे आसन पर बैठता है, हाथ जोड़ता है और चरणों में धोक लगाता है।

(2) विनीत प्रारंभ किये हुए काम को नहीं छोड़ता, चंचलता नहीं लाता, जल्दी-जल्दी नहीं चलता, किन्तु विनयपूर्वक धीरे-धीरे चलता है, एक जगह बैठकर वह हाथ-पैर आदि अंगों को भी नहीं हिलाता है। यह असत्य, कठोर तथा अविचारित वचन नहीं बोलता एवं एक काम को पूरा किये बिना दूसरा काम शुरू नहीं करता।

(3) विनीत सरल होता है तथा अपने गुरुजनों के साथ छल नहीं करता।

(4) विनीत कौतूहल-क्रीड़ा से सदा दूर रहता है और खेल तमाशे देखने की लालसा नहीं रखता।

(5) विनीत अपनी छोटी-सी भूल को भी दूर करने का यत्न करता है और किसी का अपमान नहीं करता।

(6) विनीत क्रोध नहीं करता एवं क्रोध को पैदा करनेवाले कारणों से भी दूर रहता है।

(7) विनीत मित्र का प्रत्युपकार करता है और कभी भी कृतघ्न नहीं बनता।

(8) विनीत विद्या पढ़कर अभिमान नहीं करता, किन्तु जैसे फलों से लदने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है, उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त करके वह विशेष नम्रता धारण कर लेता है।

(9) विनीत किसी समय आचार्य आदि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (भूल) हो जाने पर भी उनका तिरस्कार या अपमान नहीं करता।

(10) विनीत बड़े से बड़ा अपराध मित्रों द्वारा हो जाने पर भी कृतज्ञता दिखाते हुए उन पर क्रोध नहीं करता।

(11) विनीत अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नहीं करता, अपितु उनके लिए भी कल्याणकारी वचन ही बोलता है।

(12) विनीत कलह और क्लेश (डमर) से सदा दूर रहता है।

(13) विनीत कभी भी अपना कुलीनपना नहीं छोड़ता और अपने को सौंपे हुए काम को पूरा करता है।

(14) विनीत ज्ञानवान होता है तथा किसी समय बुरे विचारों के आ जाने पर भी वह कुकृत्य में प्रवृत्ति नहीं करता।

(15) विनीत बिना कारण गुरुजनों के निकट या दूसरी जगह इधर-उधर नहीं घूमता फिरता।

इस प्रकार के गुणों से युक्त पुरुष विनीत कहलाता है।

सेवा की तन्मयता

मैं जानता हूँ कि सेवा धर्म को परम गहन तथा योगियों के लिए भी अगम्य कहा गया है। इसी से इसकी महत्ता स्पष्ट है। इसे ही नौवें क्रम पर वैयावृत्य तप कहा गया है। धर्म-साधना के लिए गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहार आदि लाकर देना तथा उन्हें संयम में यथाशक्ति सहायता देना वैयावृत्य तप कहलाता है।

वैयावृत्य तप का मूल्यांकन करते हुए मुझे समझ में आता है कि प्रायश्चित, विनय और वैयावृत्य तपों की जैसे एक कड़ी है तथा यह कड़ी लोकोपकार की महत्ता को प्रकाशित करती है। किसी को कष्ट दिया हो, तो उसका खेद करना व फिर किसी को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा करना प्रायश्चित तप है, तो विनय तप मन-मानस को ऐसा शुभ मोड़ दे देता है कि सबके प्रति सहिष्णु बन जाये तथा सबका समादर करे। उसके बाद क्रम आता है कि अपने विचार और आचार से सभी प्राणियों को सुख पहुँचाये। इस उद्देश्य की पूर्ति में ही व्यक्तिगत सुख पहुँचाने की प्रक्रिया वैयावृत्य तप से प्रारंभ होती है, जो विशाल एवं व्यापक रूप लेती हुई समाज, राष्ट्र एवं मानवता तथा सम्पूर्ण प्राणी समूह की सेवा के रूप में परिणत हो जाती है। इस सेवा के कई रूप हो सकते हैं, किन्तु उद्देश्य यही रहता है कि अपने क्रिया कलापों से अधिक से अधिक लोग या प्राणी सुख का अनुभव करें। इस

तप की आराधना में सेवा की तन्मयता इतनी गहरी हो सकती है कि तपस्वी अपने स्वार्थों को तो त्यागता ही है, लेकिन अपने हितों तक को भूल जाता है एवं सेवा कार्यों में सर्वस्व न्योछावर करके आत्म-विसर्जित बन जाता है।

मैं मानता हूँ कि वैयावृत्य व्यक्ति की तथा सेवा समाज (अपने वृहत्तर अर्थ में) की होती है। जैसे एक साधु होता है, वह अपने आचार्य, गुरु आदि की वैयावृत्य करता है, अपनी सेवा से उन्हें सुख-शांता उपजाता है, तो क्या वह वीतराग वाणी के उपदेशों का प्रसार करके और कल्याण का मार्ग दिखाकर सम्पूर्ण विश्व की सेवा नहीं करता? कोई सेवा किसी रूप में करता है, तो कोई अन्य रूप में, किन्तु सेवा का लक्ष्य एक ही होता है कि अधिक से अधिक प्राणियों को सुख मिले। दया और दान क्या होते हैं? इस सेवा के ही तो प्रकारान्तर हैं। किन्तु सेवा के इतने प्रकार होते हैं कि लोग उन्हें समझ नहीं पाते और उसके परिणामों के प्रति निष्कर्ष नहीं निकाल पाते—इसी कारण सेवा धर्म को अगम्य माना गया है। वह अगम्य उनके लिए ही नहीं होता, जो सेवा पा रहे हैं, बल्कि कई बार उनके लिए भी अगम्य रह जाता है, जो स्वयं सेवा कर रहे होते हैं। सेवा की गूढ़ता खोजना और उसका रसास्वादन करना महान तपस्या का ही सुफल होता है।

वैयावृत्य या सेवा तप की एक आन्तरिकता और होती है। दूसरों को सुख पहुँचायें—यह तो इस तप में है ही, किन्तु जब दूसरों को सुख पहुँचाना चाहते हैं, तो निश्चय ही अपना सुख गौण हो जाता है, लेकिन सेवा के क्षेत्र में एक कदम और आगे बढ़ना होता है। वह इस रूप में कि दूसरों (गुरुजनों) की वैयावृत्य करते हुए अथवा व्यापक रूप से सेवा करते हुए स्वयं को कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। किन्तु सेवा तप की भावना इतनी उत्कृष्ट होती है कि तप का आराधक उन कष्टों को कष्ट रूप मानने को ही तैयार नहीं होता, बल्कि उन कष्टों को अपने आत्मिक आनन्द का स्रोत मानता है। इस रूप में सेवा तप की आराधना एक सच्चे आराधक के लिए आत्म-विकास का महान चरण रूप होती है।

मैं वीतराग वाणी का ध्यान करता हूँ, जिस में कहा गया है

कि वैद्यावृत्य तप की सम्यक् आराधना से कर्मों की महानिर्जरा होती है तथा पुनः कर्मों के उत्पन्न न होने से महापर्यवसान होता है अर्थात् उस तपस्वी आत्मा का आत्यन्तिक अन्त होता है। इस महानिर्जरा और महापर्यवसान के पाँच बोल बताये गये हैं—(1) आचार्य, (2) उपाध्याय, (सूत्र पढ़ानेवाले ज्ञानदाता) (3) स्थविर, (4) तपस्वी तथा (5) ग्लान साधु की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैद्यावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरावाला होता है और पुनः उत्पन्न न होने से महापर्यवसान अर्थात् आत्यन्तिक अन्तवाला होता है। इसी के पाँच बोल इस प्रकार भी हैं—(1) नवदीक्षित साधु—थोड़े समय की दीक्षा पर्यायवाले, (2) कुल—एक आचार्य की शिष्य मंडली को कुल कहते हैं, (3) गण—कुल के समुदाय को गण कहते हैं, (4) संघ—गणों के समुदाय को संघ कहते हैं एवं (5) साधर्मिक—लिंग और प्रवचन की अपेक्षा से समान धर्मवाला साधु साधर्मिक कहा जाता है, इस प्रकार इन पाँचों की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैद्यावृत्य करनेवाला साधु महानिर्जरा और महापर्यवसान—वाला होता है।

यों वैद्यावृत्य के दस भेद बताये गये हैं, जिनमें उपरोक्त दस बोलों का समावेश हो जाता है—(1) आचार्य, (2) उपाध्याय, (3) स्थविर, (4) तपस्वी, (5) ग्लान, (6) शैक्ष (नवदीक्षित), (7) कुल, (8) गण, (9) संघ तथा (10) साधर्मिक की वैद्यावृत्य करना। अपने से बड़े या असमर्थ की सेवा शुश्रूषा का दूसरा नाम ही वैद्यावृत्य है। इन दस भेदों में भी पीछे के चार भेद व्यक्तिवाचक से अधिक समूहवाचक है और इनकी सेवा में सामूहिक दृष्टिकोण का समावेश करना होता है। कुल, गण या संघ की वैद्यावृत्य अधिक विस्तृत रूप का होता है और यही वैद्यावृत्य अप्रत्यक्ष रूप से जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति होता है, तो वह सेवा का विशालतम रूप होता है।

आत्म—चिन्तन का अध्याय

मैं स्वाध्याय तप की अचिन्त्य महिमा मानता हूँ, क्योंकि मेरे 'मैं' से इसका गहरा सम्बन्ध होता है तथा उसके रूपान्तरण का भी यह तप सबल माध्यम बनता है। स्वाध्याय शब्द स्व + अधि + आय से मिलकर बना है, जिसका अर्थ होता है— अपने में गमन करना

अर्थात् आत्मा में रमण करना आत्म-चिन्तन करना। इसे आत्म-चिन्तन का अध्याय कह सकते हैं और साथ ही यह अध्याय आत्म-चिन्तन के लिए भी हो। आत्मा का चिन्तन तथा आत्मा के लिए चिन्तन—इन दोनों का समावेश स्वाध्याय में हो जाता है।

मैं अपनी आत्मा का चिन्तन करता हूँ—इसका अभिप्राय यह होगा कि मैं अपनी आत्मा के मूल स्वरूप का चिन्तन करता हूँ— उस में निहित अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का चिन्तन करता हूँ तथा उसके परम प्रताप एवं सर्वशक्तिमत्ता का चिन्तन करता हूँ कि वह जागृत होकर सक्रिय हो और सर्वोच्च विकास का पुरुषार्थ करे। मैं अपनी आत्मा के लिए चिन्तन करता हूँ, जिसका अर्थ होगा कि मैं उन शास्त्रों, सूत्रों अथवा ग्रंथों का पठन और मनन करता हूँ, जो आत्म-विकास की सही दिशा का ज्ञान देते हैं। इस रूप में स्वाध्याय तप का सम्बन्ध मूलतः आध्यात्मिक यानि आत्मा के प्रति होता है। आन्तरिक चिन्तन और बाह्य अध्ययन दोनों का लक्ष्य एक ही है।

इस आध्यात्मिक अध्ययन को स्वाध्याय का बाह्य रूप मानते हुए इसके पाँच भेद बताये गये हैं—

(1) वाचना—शिष्य को सूत्र (शास्त्र) एवं उनका अर्थ पढ़ाना वाचना कहलाता है। शिष्य का कर्तव्य है कि गुरु जिस रूप में सूत्र की वाचना दे व उच्चारण करे, उसी रूप में वह वाचना ले तथा उच्चारण करे। वाचना में सूत्र के शब्दों एवं उसके अर्थ—भावार्थ पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। उसमें हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोषहीन आदि दोषों से बचने का पूरा यत्न होना चाहिए।

(2) पृच्छना—वाचना ग्रहण करने के बाद उस में किसी प्रकार का संशय होने पर पुनः पूछना पृच्छना कहलाता है। पहले सीखे हुए सूत्र आदि के ज्ञान में भी शंका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है। इसका अभिप्राय यह है कि शिष्य को वाचना लेने के बाद उस पर पहले ही अपने मन में तर्क—विर्तक और चिन्तन—मनन करना चाहिए, तभी पढ़े हुए ज्ञान में शंका की स्थिति पैदा हो सकती है। ज्योंही किसी भी प्रकार की शंका उत्पन्न हो, उसे गुरु से पूछकर उसका समाधान ले लेना चाहिए।

(3) परिवर्तना—पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत न हो जाये, इस उद्देश्य से उसे बार—बार फेरने को परिवर्तना कहते हैं। एक—एक पढ़े हुए सूत्र को बार—बार फेरने से उसे भुलाया नहीं जा सकेगा, इस कारण शिष्य को परिवर्तना पद्धति की सहायता लेनी चाहिए।

(4) अनुप्रेक्षा—सीखे हुए सूत्र के अर्थ का विस्मरण न हो जाये, इस लक्ष्य से उस अर्थ का बार—बार चिन्तन—मनन करना अनुप्रेक्षा है। यह शिष्य का दायित्व है कि वह सूत्र वाचना को ग्रहण करने के बाद तात्त्विक दृष्टि से उस पर गंभीर चिन्तन—मनन बार—बार करता रहे, ताकि उसका अर्थ—विन्यास उसके मस्तिष्क में जम जाये। यह अनुप्रेक्षा की पद्धति बहुत महत्व की है, क्योंकि किसी भी विषय पर जब बार—बार चिन्तन—मनन किया जाता है, तो उस सूत्र या वाचना के अर्थ की गूढ़ता में प्रवेश होता जाता है एवं नवीन अर्थ की प्राप्ति होती रहती है।

(5) धर्मकथा—उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र एवं अन्य ज्ञान का अभ्यास करने पर श्रोताओं को प्रवचन देना धर्मकथा है। सूत्र—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एवं अनुप्रेक्षा के उपायों से सीखे हुए ज्ञान की परिपक्वता पैदा हो जाती है और ऐसा अनुभव होने के बाद ही प्रवचन देना सार्थक हो सकता है। चिन्तन—मनन एवं आत्मनिर्णय के पश्चात् ही किसी तत्व का स्वरूप दूसरों को बताने पर श्रोताओं की जिज्ञासा सम्यक् रीति से शान्त की जा सकती है। अधूरे ज्ञान के साथ व्याख्यान देना समुचित नहीं कहा गया है, क्योंकि उससे अज्ञान का प्रचार संभव है। धर्मकथा की इस प्रक्रिया की उपमा मधुमक्खियों की प्रक्रिया से दी जाती है। जैसे मधुमक्खी अपने विवेक से योग्य पुष्प देखकर उस पर बैठती है, उसका रस ग्रहण करती है और उस रस को पचाकर फिर अपने छत्ते में व्यवस्थित रखती है। ऐसा रस जब शहद रूप में लोगों को मिलता है, तब वह आरोग्य—प्रदायक होता है। इसी प्रकार एक शिष्य को न केवल सूत्र के शब्दों का सही उच्चारण करना आना चाहिए, बल्कि उन के अर्थ को जानकर अर्थ पर अपना गंभीर चिन्तन—मनन करना चाहिए। मधुमक्खी द्वारा पुष्प—चयन की तरह उसे श्रेष्ठ ग्रंथों का चयन करना चाहिए, उनसे ज्ञान का अपने मनो—मानस में एक धारा—प्रवाह बनाना चाहिए और भीतर ही भीतर

आत्म—विश्वास पैदा करना चाहिए कि वह उस विषय पर अधिकारपूर्वक प्रवचन दे सकता है। इस प्रकार की आत्मविश्वस्ति के पश्चात् ही वह व्याख्यान दे और श्रोताओं की शंका—कुशंकाओं का समुचित समाधान देने का सामर्थ्य पैदा करे।

स्वाध्याय के इन भेदों पर जब मैं गंभीर चिन्तन करता हूँ, तो मेरा हृदय प्रकाश से भर उठता है। वीतराग देव सर्वज्ञ थे और वे जानते थे कि यदि ज्ञानार्जन पूर्ण नहीं होगा और उसके पहले ही प्रवचन देना प्रारंभ कर दिया गया, तो उसके दो परिणाम सामने आ सकते हैं। एक तो यह कि स्वयं शंकापूर्ण हृदयवाला प्रवचन—दाता जब प्रवचन देगा और श्रोताओं की शंकाओं का निराकरण नहीं कर सकेगा, तो उससे सदज्ञान के प्रसार की अपेक्षा भ्रान्तियों का ही प्रसार अधिक होगा। कई बार तो उसके अधकचरेपन से सम्यक् ज्ञान भी लांछित होगा। दूसरे, यदि श्रोताओं में अधिक ज्ञानी पुरुष हुए और उन्होंने प्रवचन—दाता को सही तत्व—स्वरूप बताना चाहा, तो उससे प्रवचन दाता के प्रति सामान्य लोगों की अश्रद्धा भी पैदा हो सकती है। मैं सोचता हूँ कि यों तो ज्ञान के महासागर को आत्मसात् करना अत्यन्त श्रमसाध्य विषय है, फिर भी यथासाध्य ज्ञान की पूर्णता साधने का शिष्य का यत्न होना चाहिए और कम से कम जिन विषयों का वह प्रवचन में उल्लेख करना चाहता है, उन पर उसका गूढ़ आत्म—विश्वास एवं अधिकार होना चाहिए। ऐसा होने पर ही सद्धर्म का प्रभावशाली प्रचार संभव होता है।

मैं इस विश्लेषण से अनुभव करता हूँ—इस मर्म का कि स्वाध्याय को तप क्यों कहा गया है? वह भी इतना ऊँचा तप, जो आभ्यन्तर तप क्रम में भी बहुत ऊपर रखा गया है। स्वाध्याय के रूप में आत्म—चिन्तन के लिए अध्यायों का अध्ययन हो तथा उससे आत्म—चिन्तन विकसित हो, तभी जाकर अपने ज्ञान की धारा बाहर प्रवाहित की जा सकती है, क्योंकि वैसी अजस्र धारा ही दूसरों को अपने आत्म—विकास की बलवती प्रेरणा दे सकती है। वीतराग देवों ने यह भी बताया है कि गुरु शिष्य को वाचना देने एवं सूत्र सिखाने के समय निम्न बोलों को ध्यान में रखे :-

(1) शिष्य को शास्त्र-ज्ञान का ग्रहण हो और उनके श्रुत का संग्रह हो-इस प्रयोजन से शिष्य को वाचना देवे।

(2) उपग्रह के लिए शिष्य को वाचना देवे, जिससे सूत्र सीखा हुआ शिष्य आहार, पानी, वस्त्र आदि की शुद्ध गवैषणा द्वारा प्राप्ति कर सके और जो गवैषणा उसके संयम की सहायक बन सके।

(3) सूत्रों की वाचना देने से मेरे कर्मों की निर्जरा होगी-इस विचार से गुरु वाचना देवे।

(4) गुरु यह सोचकर भी वाचना देवे कि वाचना देने से मेरा सूत्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(5) शास्त्र का व्यवच्छेद न हो और शास्त्र की परम्परा चलती रहे-इस प्रयोजन से गुरु शिष्य को वाचना देवे।

शिष्यों के लिए भी निर्देश दिये गये हैं, निम्न पाँच प्रकारों में कि वे किस प्रयोजन से ज्ञानार्जन करें :-

(1) तत्त्वों के ज्ञान के लिए सूत्र सीखें।

(2) तत्त्वों पर श्रद्धा करने के लिए सूत्र सीखें।

(3) चारित्र के लिए सूत्र सीखें।

(4) मिथ्याभिनिवेश छोड़ने के लिए अथवा दूसरों को छुड़वाने के लिए सूत्र सीखें।

(5) सूत्र सीखने से यथावस्थित द्रव्य एवं पर्यायों का ज्ञान होगा-इस विचार से सूत्र सीखें।

स्वाध्याय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शोभन रीति से मर्यादापूर्वक अस्वाध्याय काल का परिहार करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है, जिसके अनुसार रीति एवं मर्यादा के साथ काल-समय को भी विशेष महत्व दिया गया है। इस रूप में अस्वाध्याय के प्रकार निम्न बताये गये हैं :-

(1) दस आकाश-सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं, जिनमें उल्कापात (तारा टूटने से एक प्रहर तक), दिग्दाह (दिशा-विशेष में आग जैसी रोशनी दीखने पर एक प्रहर तक), गर्जित (मेघ गर्जना पर दो प्रहर तक), विद्युत (बिजली चमकने पर एक प्रहर तक वर्षा ऋतु में नहीं),

निघर्ति (व्यन्तर आदि की प्रचंड ध्वनि होने पर एक अहोरात्रि तक), यूपक (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को संध्या के समय प्रभा के मिल जाने से रात्रि के प्रथम प्रहर तक), यक्षादीप्त (व्यन्तर कृत अग्नि दीपन पर), धूमिका (धूवर पड़ने पर पड़ने तक), महिका (जल रूप धुंधल गिरने पर गिरने तक) तथा राज उद्धात (चारों ओर धूल छा जाने पर) शामिल हैं। ये सब अस्वाध्याय काल माने गये हैं।

(2) दस औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय—अस्थि, मांस और रक्त किसी पंचेन्द्रिय तिर्यच या मनुष्य का साठ या सौ हाथ के भीतर होने पर, अशुचि (मल मूत्र) निकट होने या उसकी दुर्गंध आने पर, श्मशान के चारों ओर सौ-सौ हाथ तक, चन्द्रग्रहण होने पर आठ से बारह प्रहर तक, सूर्यग्रहण होने पर बारह से सोलह प्रहर तक, राजा के निधन पर दूसरे के सिंहासनारूढ़ होने तक, राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर शान्ति होने तक, उपाश्रय में तिर्यच या मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा होने पर सौ हाथ तक अस्वाध्याय होता है।

(3) चार महाप्रतिपदा (आषाढ, आश्विन, कार्तिक व चैत्र पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदाएँ) तथा इन चारों महापूर्णिमाओं को स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(4) प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि—इन चारों सधिकाल में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

मैं मानता हूँ कि स्वाध्याय प्रत्येक चिन्तनशील मानव के लिए एक अनिवार्य तप और अनुष्ठान है। उसकी चिन्तनशक्ति को सत्प्रेरणा सूत्र—शास्त्र और सत्साहित्य के अध्ययन से ही मिल सकती है। उसका अध्ययन जितना गहरा, जितना अध्यवसायपूर्ण और जितना हार्दिकता के साथ होगा, उतना ही उसका ज्ञान परिपुष्ट प्रखर एवं परिपक्व बनेगा। स्वाध्याय की श्रेष्ठ रीति के लिए इन नियमों का अनुपालन लाभप्रद हो सकता है :-

(1) स्वाध्याय के समय चित्त की एकाग्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक होती है। मन इधर-उधर डोलता रहे और पाठों का उच्चारण चलता रहे, तो अर्थ क्या शब्द भी सही तरीके से पल्ले नहीं

पढ़ेंगे। चारों ओर से ध्यान हटकर अपनी अध्ययन सामग्री में ही वह केन्द्रित हो जाना चाहिए। मानसिक चंचलता में स्वाध्याय का आनन्द आ ही नहीं सकता।

(2) स्वाध्याय का स्थान भी इस दृष्टि से स्वच्छ, शान्त और एकान्त होना चाहिए। स्थान की अनुकूलता आवश्यक है, क्योंकि चहल-पहल, कोलाहल या गंदगीवाले स्थान पर बैठकर मानसिक एकाग्रता नहीं साधी जा सकती।

(3) स्वाध्याय प्रतिदिन यथासमय किया जाना चाहिए। उसमें विक्षेप नहीं होना चाहिए तथा नियम का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।

(4) स्वाध्याय के ग्रंथों का चयन करते समय सदा यह लक्ष्य रहना चाहिए कि उसमें ऐसा कोई भी साहित्य सम्मिलित न हो, जो किसी भी प्रकार से विषय-कषाय के दुर्गुणों को किसी भी रूप में उत्तेजित करे। स्वाध्याय के विषय संयम एवं ज्ञानार्जन को परिपुष्ट बनानेवाले ही होने चाहिए।

(5) स्वाध्याय करते समय अध्येता को यह आत्म विश्वास होना चाहिए कि वह विषय की गूढ़ता को समझ रहा है तथा स्वाध्याय से उसके हृदय में ज्ञान के प्रकाश की किरणें प्रकाशित हो रही हैं। वह अपने संकल्प को दृढ़ीभूत करता रहे।

मैं स्वाध्याय के स्वरूप को समझता हूँ तथा आत्म-चिन्तन रूप जागृति को निरन्तर बनाये रखने के लिए प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी रूपान्तरण की प्रवृत्ति का प्रति समय निरीक्षण करता रहूँ कि (1) मन किसी अशुभ विचार की ओर तो उन्मुख नहीं हो रहा है, (2) गुणों की ओर मेरा जो आकर्षण बना है, वह अभिवृद्ध हो रहा है या नहीं? (3) दोषों के प्रति मेरी जो गर्हा बनी थी, वह गहरी हो रही है अथवा नहीं? (4) गुणों के पोषक स्थान अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि और वैसे निमित्तों का सेवन भी जारी है या नहीं—और इन्हीं आधारों पर मैं अपने स्वाध्याय-तप का मूल्यांकन करूँगा तथा आत्म-चिन्तन के अध्याय को सम्पन्न और सम्पूर्ण बनाऊँगा।

उच्चता ध्यान—साधना की

प्रायश्चित्त से पवित्र बना, विनय से मंडित, सेवा में तन्मय और आत्म—चिन्तन का अध्येता होकर मेरा मन जब ध्यानावस्थित होगा, तो निश्चय ही वह उसकी उच्चता को भी साध सकेगा। ध्यान तप की साधना से मेरी आत्म—शक्तियाँ प्रकाशित भी होंगी तथा प्रभावशाली भी। उनके सुप्रकटीकरण से मेरी आत्मा का परम प्रताप एवं सर्वशक्ति वैभव मुझे असीम आनन्द की अनुभूति देगा।

ध्यान तप की महत्ता का आकलन करने के लिए पहले ध्यान के प्रकारों को समझ लेना आवश्यक है। वैसे ध्यान को योग का सातवाँ अंग कहा गया है। बहुत देर तक चित्त को किसी एक ही तत्व या बात को सोचने में लगाये रखना भी एक तरह का ध्यान कहलाता है। इस प्रकार यदि बारह सैकंड मात्र तक भी चित्त एक स्थान पर स्थिर रह जाये, तो उसे धारणा भी कहते हैं। वस्तुतः बारह धारणाओं का एक ध्यान होता है। अशुभ एवं ध्यान रूप ध्यान के चार भेद एवं 48 उपभेद निम्नानुसार कहे गये हैं :—

(1) आर्तध्यान—दुःख के निमित्त अथवा दुःख में होनेवाला ध्यान कहलाता है। यह आर्त यानि दुःखी प्राणी का ध्यान होता है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि के कारणों से जब चित्त में आकुलता—व्याकुलता फैलती और बढ़ती है और आत्मा जब मोहवश राज्य या सत्ता के उपभोग, धन वैभव, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गंध, माला, मणि, रत्न, आभूषण आदि पदार्थों की जो अतिशय कामना करती है, तब वह आर्तध्यान रूप अशुभ ध्यान में रत बनती है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं—(अ) अमनोज्ञ वियोग चिन्ता—अमनोज्ञ, अप्रिय या अनिच्छित शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, विषय एवं उनके साधन—भूत पदार्थों का संयोग होने पर उनकी वियोग स्थिति की चिन्ता करना वियोग हो जाने पर सुख का अनुभव करना तथा भविष्य में भी उनका संयोग न हो सके, ऐसे प्रयत्नों में व्याकुल बने रहना—यह आर्तध्यान का पहला प्रकार है। इस प्रकार का मूल कारण अमनोज्ञ के प्रति द्वेष होता है। (ब) रोग चिन्ता—शूल, सिर—दर्द आदि रोगों का आक्रमण होने पर उनकी चिकित्सा में व्याकुल होकर

रोगों के मिट जाने की चिन्ता करना और भविष्य में रोग-संयोग न हो, इसके लिए आतंकित रहना रोग चिन्ता आर्तध्यान है। (स) मनोज्ञ संयोग चिन्ता-पाँचों इन्द्रियों के विषय एवं उनके साधन रूप स्वयं, माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र, धन तथा साता वेदना के संयोग में, उनका वियोग न हो- ऐसी चिन्ता करना तथा भविष्य में भी उनके संयोग की इच्छा रखना-यह आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है। इस प्रकार का मुख्य कारण राग माना गया है। (द) निदान (नियाणा)-सम्राट, इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि की ऋद्धि या रूप-राशि देखकर अथवा सुनकर उनमें आसक्ति लाना तथा यह सोचना कि मैंने जो तप-संयम आदि के धर्मकृत्य किये हैं, उनके फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि और रूपराशि प्राप्ति हो-यह निदान आर्तध्यान है। इसे अधम चिन्ता कही गयी है। इसका मूल कारण अज्ञान होता है, क्योंकि अज्ञानी ही दूसरों के प्राप्त सुखों में आसक्ति भाव लाते हैं। ज्ञानी पुरुषों के चित्त में तो सदा ही मोक्ष की लगन लगी रहती है।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान राग, द्वेष से युक्त होने के कारण संसार में अधिक भव भ्रमण करानेवाला है। आर्तध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं-(अ) आक्रन्दन-ऊँचे स्वर से रोना और चिल्लाना, (ब) शोचन-आँखों में आँसू लाकर दीन-भाव धारण करना, (स) परिवेदना-बार-बार आर्त भाषण करना तथा विलाप करना एवं (द) तेपनता-झार-झार आँसू गिराना। इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग और वेदना के निमित्त से ये चारों चिह्न एक आर्तध्यानी में दिखायी देते हैं।

(2) रौद्र ध्यान-हिंसा की ओर उन्मुख बनी आत्मा द्वारा प्राणियों को कष्टित कर रुलाने और संत्रस्त बनानेवाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्र ध्यान होता है। हिंसा की ओर उन्मुख होनेवाली आत्मा हिंसा के साथ झूठ, चोरी, धन रक्षा आदि से भी अपने मन को जोड़ती है और वैसी दशा में अतिक्रूर परिणामों से ग्रस्त बनकर वह रौद्र ध्यानी होती है। उस प्रकार के ध्यान में छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना, शोषण करना, अधीन बनाना आदि के संकल्प-विकल्प ही चलते रहते हैं और ऐसा रौद्र ध्यानी इन सब कुकृत्यों के प्रति राग भाव रखता है और उसके हृदय

में अनुकम्पा—दया का भाव नहीं रहता है। रौद्रध्यान के चार प्रकार कहे गये हैं :- (अ) हिंसानुबन्धी—प्राणियों को चाबुक, बेंत आदि से मारना, कील आदि से नाक वगैरह बीधना, किसी को रस्सी, जंजीर आदि से बाँधना, अग्नि में जलाना, अग्नि—दाग (डाम) लगाना, तलवार आदि धारदार शस्त्र से प्राण—वध करना अथवा इस प्रकार के व्यवहार न करते हुए भी क्रोध के वश होकर निर्दयतापूर्वक निरन्तर इन हिंसाकारी व्यापारों को करने का चिन्तन करना हिंसानुबन्धी रौद्र ध्यान है। (ब) मृषानुबन्धी—रौद्रध्यान के इस प्रकार में दूसरों को ठगने की मायावी प्रवृत्तियाँ चलायी जाती हैं तथा छिपकर पापाचरण करते हुए अनिष्टसूचक शब्द, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत् अर्थ का अपलाप एवं एक के स्थान पर दूसरे पदार्थ आदि का कथन रूप असत्य वचन तथा प्राणियों के उपघात करनेवाले कहे जाते हैं अथवा कहने की निरन्तर चिन्ता की जाती है। (स) चौर्यानुबन्धी—तीव्र क्रोध एवं लोभ से व्यग्र चित्तवाले पुरुष की प्राणियों के उपघातक अनार्य काम जैसे, पर—द्रव्य—हरण आदि में निरन्तर चित्तवृत्ति का उलझे हुए रहना चौर्यानुबन्धी रौद्र ध्यान है। (द) संरक्षणानुबन्धी—पाँचों इन्द्रियों के शब्द, रूप आदि पाँच विषयों के साधन रूप धन की रक्षा करने की फिक्र में लगे रहना एवं न मालूम दूसरा क्या करेगा—इस आशंका से रात—दिन ग्रस्त रहना और दूसरों का उपघात करने की कषायमयी चिन्तना करना रौद्र ध्यान के इस प्रकार में होता है।

रौद्र ध्यान उन लोगों के साथ लगा रहता है, जो राग, द्वेष एवं मोह से सदा आकुल—व्याकुल रहता है। हिंसा, मृषा, चौर्य एवं संरक्षण स्वयं करना, दूसरों से कराना एवं करते हुए की प्रशंसा (अनुमोदना) करना—इन तीनों कारण विषयक चिन्ता करना रौद्रध्यान का रूप होता है। रौद्रध्यान के भी चार लक्षण बताये गये हैं : (अ) आसन्न दोष—रौद्र ध्यानी हिंसा आदि से निवृत्त न होने के कारण बहुलतापूर्वक हिंसा आदि में से किसी एक पाप में प्रवृत्ति करता है—यह आसन्न दोष है। (ब) बहुलदोष—रौद्रध्यानी हिंसा आदि सभी पापों व दोषों में प्रवृत्ति करता है—यह बहुलदोष है। (स) अज्ञान दोष—अज्ञान के कारण कुशास्त्र के कुसंस्कार से नरक आदि गति दिलानेवाले अधर्म—स्वरूप हिंसा आदि कार्यों को धर्म कार्य मानकर उस बुद्धि से उन्नति के लिए

प्रवृत्ति करना अज्ञान दोष है। इसे नानादोष भी कहते हैं, क्योंकि रौद्र ध्यानी विविध हिंसा आदि के उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति करता है। (द) आमरणान्त दोष-मरण-पर्यन्त क्रूर हिंसा आदि के कार्यों में अनुताप या पछतावा नहीं होना और हिंसा आदि के कार्यों में प्रवृत्ति करते रहना यह दोष है।

(3) धर्म ध्यान-वीतराग प्रणीत धर्म और उनकी आज्ञा के अनुरूप वस्तु-स्वरूप के चिन्तन मनन में मन को एकाग्र बनाना धर्म ध्यान है। यह ध्यान श्रुत एवं चारित्र धर्म से युक्त होता है। धर्मध्यानी सूत्र एवं अर्थ की ज्ञान-साधना करता है, महाव्रतों को धारण करता है, बंध और मोक्ष तथा गति और आगति के हेतुओं का विचार रखता है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति लेता है तथा प्राणियों के प्रति दया भाव से द्रवित होता है और इन सभी प्रवृत्तियों में स्थिरचित्ती बनता है। धर्म ध्यान में रत रहनेवाली आत्मा वीतराग एवं सुगुरु के गुणों का कथन करनेवाली, उनकी प्रशंसा करनेवाली, श्रुतिशील एवं संयम में अनुरक्त होती है।

धर्मध्यान के चार प्रकार होते हैं—(अ) आज्ञा विचय-वीतराग देव की आज्ञा (उपदेश वाणी) को सत्य मानना, उस पर श्रद्धा करना तथा उसमें प्रतिपादित तत्त्वों पर चिन्तन और मनन करना। वीतराग देवों की वाणी कैसी होती है? सूक्ष्म तत्त्वों की विवेचना करने से यह अति निपुण, अनादि-अनन्त, सभी प्राणियों के लिए हितकारी, अनेकान्त का ज्ञान करानेवाली, अमूल्य, अपरिमित, अन्य प्रवचनों से अपराभूत, महान, अर्थवाली, महाप्रभावशाली, नयभंग एवं प्रमाण से गहन होती है, अतएव अकुशलन जनों के लिए दुःज्ञेय होती है। वीतराग आज्ञा की पूर्ण सत्यता में ऐसा निःशंक विश्वास होना चाहिए कि यदि वीतराग देवों के प्रतिपादित तत्व के रहस्य को समझानेवाले आचार्य महाराज समक्ष न हों, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से या दुर्बल बुद्धि के कारण कोई स्वरूप, हेतु या उदाहरण समझ में नहीं आये, तब भी विचारों में किसी प्रकार का सन्देह प्रविष्ट नहीं होना चाहिए। यही विचारधारा रहनी चाहिए कि वीतराग देवों द्वारा असत्य कथन का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे अनुपकारी जन के प्रति भी उपकार में तत्पर

रहनेवाले जगत में प्रधान, त्रिलोक के ज्ञाता एवं राग, द्वेष व मोह के विजेता होते हैं। इस निष्ठा के साथ वीतराग वाणी का चिन्तन-मनन करना और गूढ़ तत्त्वों के विषय में कोई शंका न रखते हुए उन्हें दृढ़तापूर्वक सत्य समझना तथा वीतराग की आज्ञा में मन को एकाग्र करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। (ब) अपाय विचय—इस प्रकार के अनुसार राग, द्वेष, कषाय आदि अपायों के चिन्तन करने में मन को एकाग्र करना है। राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव एवं क्रियाओं से होनेवाले ऐहिक व पारलौकिक कुफल और हानियों पर विचार करना। जैसे कि रोग ग्रस्त व्यक्ति को अपथ्य अन्न की लालसा होती है, वैसे ही कर्मग्रस्त आत्मा प्राप्त हुए राग को अपने से चिपकाये रखना चाहती है, किन्तु अपथ्य अन्न की तरह प्राप्त राग भी अतीव हानिप्रद होता है। इसी प्रकार प्राप्त हुआ द्वेष भी आत्मा को उसी प्रकार तपा देता है, जैसे कोटर में रही हुई आग वृक्ष को जल्दी ही जला डालती है। राग और द्वेष इहलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ते हैं। यही अवस्था अनियंत्रित क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायों की होती है, जो बढ़ते हुए संसार रूपी वृक्ष को सींचते रहते हैं। कषायी आत्मा प्रशम आदि गुणों से शून्य तथा मिथ्यात्व से मूढ़ होती है। कषायों से भी अज्ञान अधिक दुःखदायी होता है, क्योंकि अज्ञानी आत्मा अपना हिताहित भी नहीं पहिचानती है। हिंसा आदि आश्रव से अर्जित पापकर्मों के कारण आत्मा दीर्घकाल तक नीच गतियों में भटकती हुई अनेक अपायों (दुःखों) की भाजन होती है। इन दोषों से होनेवाले, कुफल का चिन्तन करनेवाली आत्मा इन दोषों से अपनी रक्षा करने में सावधान हो जाती है, जिससे वह सफलतापूर्वक आत्म-कल्याण की साधना कर सकती है। (3) विपाक विचय—आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना कि वह अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं सुख रूप है, किन्तु कर्मावृत्त होने के कारण उसके मूल गुण दबे हुए हैं और उसी से उसका संसार परिभ्रमण चल रहा है। सम्पत्ति-विपत्ति या संयोग-वियोग आदि से होनेवाले सुख-दुःख आत्मा के ही पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल होते हैं, क्योंकि आत्मा ही अपने सुख-दुःख का भोक्ता और कर्ता होती है। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कर्मों के ही भिन्न-भिन्न फल होते हैं। इस प्रकार कषाय एवं योग जनित शुभाशुभ कर्म प्रकृति

बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध, प्रदेश बंध, उदय, उदीरण, सत्ता इत्यादि कर्म विषयक चिन्तन में मन को एकाग्र करना विपाक विचय धर्मध्यान है। (द) संस्थान-विचय-इस अनादि अनन्त संसार सागर का चिन्तन करना कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य एवं उनकी पर्याय, जीव-अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक का स्वरूप, जीव की गति-आगति एवं जीवन-मरण आदि संसार-संसरण के रूपक हैं तथा इस संसार सागर में आत्मा और उसके कर्म से उत्पन्न जन्म-जरा-मरण रूप जीवन अथाह जल रूप है, क्रोध आदि कषाय जल-तल (पाताल) है, विविध दुःख मगरमच्छ आदि हैं, अज्ञान रूपी वायु उठती रहती है तथा संयोग-वियोग रूपी लहरें रात-दिन चलती रहती हैं। इसके साथ ही यह भी चिन्तन करना कि इस संसार सागर को पार कराने में समर्थ चारित्र रूपी नौका होती है, जिसको सम्यक् ज्ञान रूपी नाविक चलाता है और जो सम्यक् दर्शन रूपी बंधनों से सुदृढ़ होती है। यह नौका संवर से छेदरहित, तप रूपी पवन से वेगवती, वैराग्य मार्ग पर चलनेवाली, किन्तु अपध्यान से न डगमगानेवाली बहुमूल्य शील रत्न से परिपूर्ण होती है, जिसे मुनि रूपी व्यापारी निर्बाध रूप से खेकर निर्वाण रूपी नगर को पहुँच जाते हैं। मोक्ष के अक्षय, अव्याबाध, स्वाभाविक व निरुपम सुखों की अभिलाषा रखते हुए वीतराग देवों द्वारा उपदेशित सिद्धान्तों के गहन अर्थ के चिन्तन में मन को एकाग्र करना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।

धर्म ध्यान के भी चार लक्षण बताये गये हैं : (1) आज्ञा रुचि-सूत्र में प्रतिपादित अर्थों पर रुचि धारण करना, (2) निसर्ग रुचि-स्वभाव से ही बिना किसी उपदेश के वीतराग भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा करना, (3) सूत्र रुचि-सूत्र द्वारा वीतराग प्ररूपित द्रव्यादि पदार्थों पर श्रद्धा करना तथा (4) अवगाढ़ (उपदेश) रुचि-वीतराग देवों के उपदेश (जो सुगुरु द्वारा कहे जायें) के भावों पर श्रद्धा करना। समुच्चय में तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व ही धर्म ध्यान का प्रमुख लक्षण होता है। धर्मध्यानी वीतराग देव एवं सुगुरु के गुणों का कथन करता है, उनकी प्रशंसा और स्तुति करता है, गुरु आदि का विनय करता है, दान देता है, तथा श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखता है। धर्म ध्यान रूपी महल पर चढ़ने के लिए स्वाध्याय के चार प्रकार- वाचना,

पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा प्रधान अवलम्बन होते हैं। धर्म ध्यानी की चार भावनाएँ मुख्य होती हैं—(1) एकत्व भावना—इस संसार में मैं अकेला आया हूँ, मेरा कोई नहीं और मैं किसी का नहीं हूँ। (2) अनित्य भावना—शरीर अनेक विघ्न बाधाओं एवं रोगों का स्थान है और प्रत्येक पदार्थ नश्वर है। (3) अशरण भावना—जन्म, जरा, मृत्यु भय से पीड़ित एवं वेदना से व्यथित इस संसार में आत्मा का त्राण रूप कोई नहीं है, सिवाय सद्धर्म के। (4) संसार भावना—संसार की अवस्थाएँ अति विचित्र होती हैं।

एक अन्य अपेक्षा से भी धर्म ध्यान के चार भेद किये गये हैं :— (1) पिंडस्थ (पृथ्वी अग्नि आदि पाँच धारणाओं का एकाग्रता से चिन्तन करना), (2) पदस्थ (पंच परमेष्ठि में किसी पद पर आश्रित होकर मन को एकाग्र करना), (3) रूपस्थ (अरिहंत भगवान के शान्त रूप को हृदय में स्थापित करके मन को एकाग्र करना एवं (4) रूपातीत (निरंजन निर्मल सिद्ध भगवान का आलंबन लेकर उनके साथ अपनी आत्मा की एकरूपता का चिन्तन करना)।

(4) शुक्ल ध्यान—जो ध्यान आठ प्रकार के कर्मों का मैल दूर करता है तथा जो सम्पूर्ण शोक को नष्ट करता है, वह शुक्ल ध्यान है। इस ध्यान के माध्यम से पूर्व विषयक श्रुत के आधार पर मन की अत्यन्त स्थिरता एवं योग का निरोध साधा जाता है तथा बिना किसी दूसरे के अवलम्बन के निर्मल आत्म-स्वरूप पर तन्मयतापूर्वक चिन्तन किया जाता है। शुक्लध्यानी इन्द्रिय-सम्बन्धित विषयों का सम्बन्ध होने पर भी अपने वैराग्य के बल से अपने चित्त को बाहरी विषयों की ओर नहीं ले जाता एवं अपने शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर रहकर चित्त को अपने शुक्ल ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डगमगाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद बताये गये हैं—(अ) पृथक्त्व वितर्क सविचारी—शुक्ल ध्यान के इस प्रकार में ध्यानी साधक द्रव्य से सम्बन्धित अनेक पर्यायों का पृथक्-पृथक् रूप से पहले जाने गये श्रुत के अनुसार विस्तारपूर्वक द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों से गंभीर चिन्तन करता है। यह ध्यान विचार सहित होता है तथा विचार का स्वरूप होता है— अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगों में संक्रमण। इस

ध्यान में अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ में और शब्द से शब्द में तथा अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है। यह शुक्ल ध्यान पूर्वधारी को होता है, जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन करता है। कभी यह ध्यान उनको भी प्राप्त हो सकता है, जो पूर्वधारी नहीं हैं। उन्हें यह ध्यान अर्थ, व्यंजन एवं योगों में परस्पर संक्रमण रूप होता है। (ब) एकत्व वितर्क अविचारी-शुक्ल ध्यान के इस प्रकार में ध्यानी साधक पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व अर्थात् अभेद से किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करता है। इस ध्यान में अर्थ, व्यंजन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। बिना हवावाले घर में रखे हुए दीपक के समान इस ध्यान में चित्त-विक्षेप-रहित होकर स्थिर रहता है। (स) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति-मोक्षगमन के पहले केवली भगवान मन, वचन के योगों का भी निरोध कर लेते हैं और अर्ध काय-योग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामों की विशेष उच्चता के कारण इस स्तर से केवली पुनः पीछे नहीं हटते हैं। इस रूप का होता है- शुक्ल ध्यान का तीसरा प्रकार। (द) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती-शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर केवली सभी योगों का निरोध कर लेते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। यह ध्यान सदा बना रहता है, इसी कारण इसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यान का पहला प्रकार सभी योगों में होता है, दूसरा किसी एक योग में होता है, तीसरा केवल काय योग में होता है, तो चौथा प्रकार अयोगी को ही होता है। छद्मस्थ अवस्था में मन को निश्चल बनाना, तो केवली की अवस्था में काया को निश्चल करना ध्यान कहलाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार लक्षण कहे गये हैं—(1) अव्यथ-शुक्लध्यानी परीषहों व उपसर्गों से डरकर ध्यान से चलित नहीं होता है, अतः वह अव्यथ लिंगवाला होता है। (2) असम्मोह-शुक्लध्यानी को अत्यन्त सूक्ष्म व गहन विषयों में अथवा देवादि रचित माया में सम्मोह नहीं होता, अतः वह असम्मोह लिंगवाला होता है। (3) विवेक-शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न तथा सर्व संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता

है। अतः वह विवेक लिंगवाला होता है। (4) व्युत्सर्ग-शुक्लध्यानी निःसंग रूप से देह एवं उपधि का त्याग करता है। अतः वह व्युत्सर्ग लिंग(लक्षण)वाला होता है। शुक्ल ध्यान के भी चार अवलम्बन बताये गये हैं—(1) क्षमा-क्रोध न करना, उदय में आये क्रोध को दबाना व क्रोध का त्याग करना, (2) मार्दव-इसी प्रकार मान का त्याग करना, (3) आर्जव-इसी प्रकार माया का त्याग करके सरलता लाना एवं (4) मुक्ति -लोभ का त्याग करके शोच निर्लोभता प्रकट करना। शुक्लध्यानी की चार भावनाएँ होती हैं—(1) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा-भव परम्परा की अनन्तता की भावना करना, (2) विपरिणामानुप्रेक्षा-वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना, (3) अशुभानुप्रेक्षा-संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना एवं (4) अपायानुप्रेक्षा-आश्रवों से होनेवाले, जीवों को दुःख देनेवाले विविध अपायों का चिन्तन करना।

मैं सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान के परमोच्च स्वरूप पर चिन्तन करता हूँ, तो मेरा हृदय आत्मोत्साह से आह्लादित हो उठता है। पाप-पंक से कलंकित बनी यह आत्मा अपने परम पुरुषार्थ से इस रूप में परम प्रतापी बन सकती है—तब अनुत्साह का क्या कारण है? मात्र दिशा परिवर्तन की आवश्यकता है कि मोहग्रस्त यह आत्मा अपने मोहावरण को सर्वथा समाप्त कर देने का कठिन संकल्प ग्रहण कर ले और शुक्ल ध्यान की श्रेणी तक पहुँचने का अध्यवसाय बनाये।

समत्व के शिखर पर

मैं भावना भाता हूँ कि तपाराधन के क्रम में आठ कर्मों के बंधनों को तोड़ता हुआ मैं भी एक दिन व्युत्सर्ग तप का आचरण करते हुए समत्व के शिखर पर आरूढ़ होऊँ। प्रायश्चित्त से लेकर व्युत्सर्ग तक के छः आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति के अन्तरंग कारण माने गये हैं।

अर्न्तदृष्टि आत्मा ही इनका सेवन करती है तथा वही इन्हें तप रूप में जानती और देखती है। इन तपों की आराधना का असर आन्तरिक राग, द्वेष, कषाय आदि पर पड़ता है, जिसे बाह्य दृष्टि से लोग देख नहीं पाते हैं। आभ्यन्तर तपों की शृंखला में व्युत्सर्ग अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ तप है, जिसका अर्थ है— ममत्व का सर्वथा त्याग कर देना

और ममत्व के सर्वथा त्याग का ही प्रतिफल होता है— समत्व के शिखर पर आरूढ़ हो जाना।

सामान्य रूप से व्युत्सर्ग तप के दो भेद कहे गये हैं— (1) द्रव्य—गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना एवं (2) भाव—कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना। यों निःसंग अर्थात् ममत्वरहित होकर शरीर और उपधि के त्याग रूप इस व्युत्सर्ग तप के सात भेद भी किये गये हैं—(1) शरीर व्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना, (2) गण व्युत्सर्ग—अपने सगे—सम्बन्धी या शिष्य वगैरह का त्याग करना, (3) उपधि व्युत्सर्ग—भंड, पात्र, उपकरण आदि का त्याग करना, (4) भक्तपान व्युत्सर्ग—आहार—पानी का त्याग करना, (5) कषाय व्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायों का त्याग करना, (6) संसार व्युत्सर्ग—नरक आदि के आयुष्य—बंध के कारण संसार के कारणभूत मिथ्यात्व आदि का त्याग करना एवं (7) कर्म व्युत्सर्ग—कर्म—बंधन के कारणों का त्याग करना। इन सात व्युत्सर्गों में से प्रथम चार द्रव्य तथा अन्तिम तीन भाव व्युत्सर्ग कहलाते हैं। जैसे कषाय व्युत्सर्ग के क्रोध मान, माया, लोभ रूप चार भेद होते हैं, वैसे ही संसार व्युत्सर्ग के भी चार भेद हैं—नैरयिक, तिर्यच, मनुष्य व देव एवं कर्म व्युत्सर्ग के आठ भेद हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गैत्र तथा अन्तराय।

मैं अपने अनुभव के आधार पर चिन्तन करता हूँ कि यह ममत्व ही संसार परिभ्रमण का मूल है और इसी कारण आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सर्वाधिक शक्तिशाली माना गया है—यह कर्म—दल का सेनापति कहा गया है। अतः कर्मों के सारे बंधनों को तोड़कर मुक्तिमार्ग की ओर गति करनी है, तो मुझे अपनी अपूर्व आत्मशक्ति का स्वरूप—दर्शन करना होगा, जो समीक्षण वृत्ति की सहायता से ही मैं कर पाऊँगा। अपनी आत्म—साक्षात्कार की अवस्था में मैं स्पष्ट जान लूँगा कि मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है और वह मार्ग है— तपाराधन का, जिसकी पूर्णाहूति होती है व्युत्सर्ग तप से। मानव का सर्वथा त्याग ही आध्यात्मिक जीवन का परम साध्य है, क्योंकि इस त्याग के पश्चात् संसार के सभी हेतु विनष्ट हो जाते हैं तथा समत्व योग की प्राप्ति हो

जाती है। समभाव, समदृष्टि एवं समता के सर्वोच्च आनन्द में आत्मा का रमण अव्याबाध और शाश्वत हो जाता है। आत्मा की अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त सुख की यह अवस्था ही उसे अनन्त शक्ति की अनुभूति देती है तथा सर्वशक्तिमान के पद से विभूषित करती है।

तपस्या का अ आ इ ई

मैं बारह प्रकार के तपाराधन का यह विवेचन समझता हूँ, तो एक बात मन में उठती है कि प्रबुद्ध, भव्य और सशक्त आत्माओं के लिए तो साधना का विशाल क्षेत्र है, किन्तु अपने आपको अशक्त माननेवाली आत्मा यदि किंचित् जागरण के प्रभाव से तपाराधन प्रारंभ करना चाहे, तो वह क्या करे? उसके लिए तपस्या का अ आ इ ई यानि आरंभ क्या हो सकता है? उसके लिए ऐसे तप होने चाहिए, जिनकी साधना सरल हो, किन्तु फल की दृष्टि से भी उनका महत्व कम नहीं हो। ऐसे तपाराधन के प्रति सामान्य जन भी सहज रूप से प्रभावित हो सकते हैं।

मैं समझता हूँ कि अति सामान्य बुद्धिवाले व्यक्ति को भी आत्मा और शरीर के अलगाव का ज्ञान करा दिया जाये, कर्मों के मेल से आत्मा की स्वरूप विकृति का भान दिला दिया जाये और यह बता दिया जाये कि विषय-कषाय के घात-प्रतिघातों से इस सांसारिक जीवन में कितने घोर कष्ट भोगने पड़ते हैं, तो उसकी चेतना को तपाराधन की दिशा में प्रभावकारी मोड़ दिया जा सकता है। उसे तपाराधन के निम्न सामान्य प्रयोग बताये जा सकते हैं तथा उसे प्रेरित किया जा सकता है कि वह उस प्राथमिक अवस्था में अपनी संकल्प शक्ति को सुदृढ़ बनाता हुआ आगे बढ़ता जाये—

(1) प्रतिदिन तीन मनोरथ का चिन्तन किया जाये। इसमें त्याग कुछ नहीं करना है, केवल त्याग की भावना बनानी होती है। तीन मनोरथ इस प्रकार हैं— (अ) वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जिस दिन मैं संसार के समस्त प्राणियों से सम्बन्धित आरंभ एवं समारंभ तथा सभी प्रकार के बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करूँगा। (ब) वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जिस दिन मैं द्रव्य से अपने मस्तक तथा भाव से अपने मन को मुंडित बनाकर साधु धर्म की दीक्षा अंगीकार करूँगा एवं (स) वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जिस दिन मैं अटारह पाप तथा

चारों आहार का त्याग करके आत्मालोचना एवं संलेखना सहित पंडित मरण को प्राप्त करूँगा। मनोरथ चिन्तन की निरन्तरता से आत्म भाव की पुष्टि होती रहेगी और इस रूप में यह पावन कार्य तप रूप ही होगा।

(2) प्रतिदिन इसी प्रकार चौदह नियमों का भी चिन्तन किया जाये, जिससे त्याग की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण होता चले तथा सामान्य त्याग का अभ्यास भी बनता चले। चौदह नियम इस प्रकार हैं— (अ) सचित, (आ) द्रव्य, (इ) विगय, (ई) उपानह, (पगरखी वगैरह) (उ) ताम्बूल—पान, (ऊ) वस्त्र, (ए) पुष्प, (ऐ) वाहन, (ओ) शय्या (मलमूत्र स्थान सहित), (औ) लेपन, (अं) ब्रह्मचर्य, (अः) स्नान व ऋ भोजन में प्रतिदिन कुछ न कुछ यथाशक्ति मर्यादा ली जाये तथा प्रतिदिन अधिकतर त्याग की भावना रखी जाये।

(3) मृत्यु अवश्यभावी है, लेकिन कब होगी—यह अज्ञात है अतः बिना त्याग—प्रत्याख्यान के अकस्मात् मृत्यु हो जाये, तो आत्म संशोधन नहीं होगा—इस भावना से प्रतिदिन रात्रि को सोते समय आश्रव की क्रियाओं का त्याग करके सागारी संथारा कर लेना चाहिए, जिसकी अवधि दूसरे दिन प्रातः उठने तक के समय की होगी। सुविधा के लिए यह पाठ उच्चारित कर लिया जाये—‘आहार, शरीर, उपधि, पचखूं पाप अटार। मरण पाऊँ तो वोसिरे, जीऊँ जागूं तो आगार।’ ऐसा ही तप का उपाय दिन—भर आहार क्रिया से बचने के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। प्रति समय खाया तो जाता नहीं है, किन्तु उसका त्याग भी नहीं होता है, अतः एक अंगुली में अंगूठी पहिनकर व्रत ले लिया जाये कि जब भी खाना होगा, अंगूठी उतारकर महामंत्र पढ़कर खाऊँगा, वरना अंगूठी पहने—पहने भोजन का त्याग रहेगा। इससे भी तपश्चरण की भावना पुष्ट होगी तथा अनावश्यक क्रिया रूप पाप—बंध से बचा जा सकेगा।

(4) प्रतिदिन अथवा दिन—रात में शुभ समय मिलने पर वन्दना करने का नियम लिया जाये। यह वन्दना सुदेव व सुगुरु के प्रति भक्ति दर्शानेवाली हो तथा उनके गुणों का स्मरण करानेवाली हो। ऐसे भक्ति—सहित वन्दन—नमन से आन्तरिकता में रही हुई कषाय—वृत्तियाँ मन्द होंगी, तो नमने से कर्मों की निर्जरा भी होगी।

(5) अनशन तप की सीमा एक नवकारसी या पौरसी से लेकर छः माह तक की होती है। कम से कम शक्तिवाला व्यक्ति भी नवकारसी (रात्रि बारह बजे से सूर्योदय के बाद 48 मिनट तक कुछ भी नहीं खाना पीना) तथा पौरसी (एक पहर तक कुछ भी नहीं खाना—पीना) की तपस्या कर सकता है। कठिनाई मामूली है लेकिन फल ऊँचा माना गया है। कहते हैं एक नवकारसी करने से सौ वर्ष नरक में जितने दुःख भोगे, उतने अशुभ कर्मों का क्षय होता है और एक पौरसी से हजार वर्ष नरक में जितने दुःख भोगे, उतने अशुभ कर्मों का क्षय होता है। एकासना तप का इससे भी अधिक फल मिलता है।

तपोपूत आत्म—शक्ति

जैसे तपस्या का अ आ इ ई होता है, वैसे उसकी पूर्णाहुति भी होता है, तपाराधना के रूप में तथा उसमें भी सर्वोच्च आभ्यान्तर तपों की साधना में। इन तपों का आचरण करते हुए कर्मों का मैल प्रक्षालित होता रहता है और आत्म—स्वरूप निर्मल बनता जाता है, ऐसी तपोपूत आत्मा ही शक्ति का केन्द्र बनती है। मैं वैसी आत्मशक्ति का दर्शन वीतराग देवों के जीवन में करता हूँ और चिन्तन करता हूँ कि ऐसी शक्ति का धारक बनकर मैं भी लोकोपकार के नये—नये आयाम साधूँ।

मैं इस दृष्टि से अपनी आत्मा को भी तपोपूत बनाने का निश्चय करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि बिना तपाराधन के मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि बिना तपाराधन के कर्मों की निर्जरा नहीं होती। अतः मैं तप करने के उद्देश्यों को इस रूप में रखता हूँ—

(1) आत्मा रूपान्तरण—मैल से गंदे हुए कपड़े को साबुन—सोड़े से धोने का प्रयत्न करेंगे, तभी मैल निकलकर उस कपड़े का रूपान्तरण हो सकेगा। मैं भी तपाराधन से इस रूप में अपने आत्मस्वरूप का रूपान्तरण करना चाहूँगा। यह रूपान्तरण अशुभता से शुभता में होगा। आत्मा के लिए साबुन—सोड़े का काम तप करता है, जो कर्म मैल को निर्जरा के रूप में दूर कर देता है। मैं तपाराधन द्वारा कर्मक्षय करके आत्मा के मैल को निर्मलता में परिवर्तित कर दूँगा। मैं तप की आराधना अपने मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, आरोग्यादि को दृष्टि में रखते हुए करता हूँ, किन्तु प्रयत्न करता हूँ कि मेरा मनोबल निरन्तर

बढ़ता रहे। मैं तपश्चरण को उसी रीति में योग्य समझता हूँ, जिससे मन समाधि में रहे, अमंगल की चिन्ता न हो, आर्त व रौद्र ध्यान न सतायें तथा इन्द्रियों व योगों का हनन न हो। तपाराधना में न तो प्रदर्शन की कामना होनी चाहिए, न ही अन्य प्रकार की ऐहिक। तपाराधन की केन्द्रस्थली आत्मा रहे तथा मैं आत्म-रूपान्तरण के प्रति सदा सतर्क रहूँ।

(2) देह-मोह-नाश-तपाराधना के क्षणों में मैं अपने आत्मस्वरूप पर गंभीर चिन्तन करूँ तथा अनुभूति लूँ कि मैं अर्थात् मेरी आत्मा मेरे ही शरीर से पृथक है। मैं जो तप कर रहा हूँ, उसका उद्देश्य एक ओर आत्मा को तपाकर निर्मल बनाना है, तो दूसरी ओर देह को तपाकर उसके प्रति जमे हुए मोह से भी मुझे मुक्ति लेनी है। तप का उद्देश्य देह त्याग नहीं, बल्कि देह-बुद्धि और देह-मोह का त्याग करना तथा विदेही की अनुभूति लेना है। मैं सोचता हूँ कि भूख-प्यास, पीड़ा-वेदना देह को होती है, आत्मा को नहीं। अतः अनन्त आनन्द की शाश्वत स्रोत आत्मा का धर्म अलग है तथा देह का धर्म अलग है।

(3) इच्छाओं और आसक्ति का अन्त-मैं तपश्चरण का यह महत्वपूर्ण परिणाम समझता हूँ कि तप जितना दृढ़ संकल्प के साथ साधा जायेगा, उतनी ही त्वरित गति से इच्छाओं का संशोधन और आसक्ति का अन्त होता जायेगा, जबकि अनेकानेक इच्छाएँ व आसक्तियाँ ही आत्मा को लुभाती हैं और पतन के गह्वर में गिराती हैं। मैं तप-काठिन्य को बढ़ाता हुआ अज्ञान, विषय व कषाय का समूल विनाश करता रहूँगा।

तपश्चरण के महान उद्देश्यों को केन्द्रस्थ बनाकर मैं तप के महात्म्य का भी निरन्तर चिन्तन करता रहूँगा, ताकि तपश्चरण के प्रति मेरी अभिरुचि अभिवृद्ध होती जाये। मेरी मान्यता है कि आत्म-विकास की महायात्रा को सफल बनाने के लिए तप ही आध्यात्मिक उष्मा और ऊर्जा है, जो आत्म गति को ऊर्ध्वगामी बनाती है। मोह-ममत्व एवं कर्मों के लेप को हटाना तप-सेवन के बिना अशक्य है। तपश्चरण से आत्मा निर्मल होती है तथा बाह्य एवं आन्तरिक जीवन निर्विकार बनता है। इस रूप में तपश्चरण शारीरिक एवं मानसिक रोगों से भी मुक्ति दिलाता है। जिन आधि-व्याधियों की चिकित्सा करने में चिकित्सक

और चिकित्सा-प्रणालियाँ विफल हो जाती हैं, उन्हें तप की क्रमिक साधना जड़-मूल से दूर कर देती है। अनशन तप के नियमित नियम से व्याधियाँ नहीं आती हैं और शरीर निरोग बना रहता है।

मेरे अनुभव में आया है कि तप की प्राभाविकता भी विपुल होती है। तपस्वी के समक्ष शक्तिशाली पशुबल भी हार मान लेता है, क्योंकि उसका आत्मबल अजेय बन जाता है। तपश्चरण से धर्म की समूची आराधना समन्वित रूप में हो जाती है। तप आत्मा को धर्म के सन्निकट ले जाता है। संवर के बाद तप से ही कर्म क्षय होते हैं और निर्जरा के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। तप ऐसी प्रखर अग्नि होती है, जिसमें निकाचित कर्म तक नष्ट हो जाते हैं। बिना तप के मोक्ष नहीं है और तपश्चरण से शीघ्र मोक्ष मिलता है। अतः मैं तप का आराधन विवेक सहित तथा समभावपूर्वक करता हूँ और यह निश्चय करके कि तपाराधना में कोई लौकिक एषणा नहीं रखूँगा, मात्र कर्मक्षय करने का हेतु ही समक्ष रखूँगा। मेरे तपाराधन में वन्दन-स्तुति का भाव भी नहीं रहेगा तथा तप के मूल तत्व धैर्य और समत्व भाव को आत्मसात करके निश्चल बना रहूँगा। इस प्रकार मेरी आत्मा तप में तपेगी, अपने स्वरूप में पवित्र बनेगी एवं शक्ति संचय में अग्रगामी होती। तपोपूत आत्मशक्ति की तभी मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकेगी।

सातवाँ सूत्र और मेरा संकल्प

तपोपूत आत्मशक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति से मेरी आत्मा का समग्र स्वरूप उल्लसित हो उठेगा, क्योंकि महाप्रतापी और सर्वशक्तिमान बनने का उसका लक्ष्य समीप आता हुआ दिखायी देगा। तब मेरा सोचना भी सार्थक हो जायेगा कि कर्म-बंधन कैसे टूटते हैं और मुक्ति के मार्ग पर कैसे पहुँचते हैं? मैं उस स्तर तक पहुँचने के लिए आज अपनी आत्म-शक्ति पर समीक्षण ध्यान करता हूँ और आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि यह महत् कार्य मैं वीतराग देवों की आज्ञा में अपने पुरुषार्थ को नियोजित करके ही सम्पन्न कर सकूँगा।

अतः मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं वीतराग देवों की आज्ञा में ज्ञान और क्रिया का संयोग बनाकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रगामी बनूँगा। इसी

प्रगति में मैं बारह प्रकार के तपों की कठोर आराधना करूँगा और कर्म बंधनों को तोड़ता हुआ देहमोह से भी मुक्त होने की अवस्था तक पहुँच जाऊँगा।

मैं अपने संकल्प में सुदृढ़ रहते हुए अपनी अनन्त आत्मिक शक्ति की अनुभूति लूँगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा महाप्रतापी एवं सर्वशक्तिमान होने का उपक्रम करूँगा।



अध्याय नौ
आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ४ :

मैं ज्ञानपुंज हूँ, समत्व योगी हूँ।

मुझे सोचना ही है कि मुझे अमित शान्ति
क्यों नहीं मिलती, अमित सुख क्यों नहीं प्राप्त होता?

ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूँगा कि
मेरा आत्म-समीक्षण एवं विश्व-कल्याण का चारण
कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है? तब मैं वीतराग
देवों की आज्ञा में रहता हुआ एकावधानता से सम्यक्
ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य की आराधना करूँगा, गुणस्थानों
के सोपानों पर चढ़ता जाऊँगा और समत्व योग के
माध्यम से अमित शान्ति एवं अक्षय सुख को प्राप्त
कर लूँगा।

सूत्र आठवाँ

मैं ज्ञानपुंज हूँ, समत्व योगी हूँ। मेरी आत्मा में अज्ञान आया हुआ है, ज्ञान मूल में है और वह ज्ञान भी सामान्य नहीं, अनन्त ज्ञान है। इसीलिए मैं ज्ञानी ही नहीं, ज्ञानपुंज हूँ।

मैं ज्ञानपुंज हूँ, अपार ज्ञान का धारक हूँ। अज्ञान इस सांसारिकता में मेरे आत्म—स्वरूप से संलग्न हुआ है और उसने मेरी ज्ञान—शक्ति आच्छन्न कर दी है, किन्तु उस अज्ञान को दूर कर देने का सामर्थ्य भी मेरे ही भीतर छिपा हुआ है—अंधकार को समाप्त कर देनेवाला प्रकाश भी मेरी ही आन्तरिकता में समाया हुआ है। मैं उस प्रकाश का आह्वान करूँ—उसे अनावृत करने का पुरुषार्थ करूँ, तो मैं प्रकाश पुंज बन सकता हूँ, ज्ञानपुंज हो सकता हूँ। ज्ञान पुंज ही प्रकाश पुंज होता है।

मैं ज्ञानपुंज हूँ और उसकी ही सम्पूर्ति में मैं समत्व योगी भी हूँ। मेरा सम्यक् ज्ञान ही मेरा पथदर्शक बनकर मुझे समत्व योग तक पहुँचाता है—समता रस का पान कराता है। मैं अपने ही ज्ञान के उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी सोपानों पर आरूढ़ होता हुआ समत्व को प्राप्त करता हूँ, तो शिखर पर पहुँचकर समत्व—योगी बन जाता हूँ।

मैं ज्ञानपुंज हूँ, समत्व योगी हूँ। मेरा ज्ञान ही चारित्र में ढलता है, मुझे चारित्रशील बनाता है और ज्ञान एवं चारित्र का गतिशील सामंजस्य स्थापित कर देता है। मेरा ज्ञान मेरी आत्मा की आँखें बन जाता है और मेरा चारित्र उसके सशक्त पाँव—तब समता के मार्ग पर उसकी दौड़ आसान हो जाती है। मेरी आत्मा तब समतावादी से समताधारी और समताधारी से समतादर्शी हो जाती है। समतादर्शी हो

जाना ही समत्व योग की चरम परिणति होती है। मैं समत्व योगी हो जाता हूँ।

मैं समत्व योगी हूँ। इसी योग के सुफलस्वरूप मुझे अमित शान्ति मिलती है और मिलता है अक्षय सुख। उस शान्ति और सुख का मैं तब शाश्वत धनी हो जाता हूँ। वह शान्ति मुझसे फिर कभी विलग नहीं होती, वह सुख मुझे फिर कभी नहीं छोड़ता—सदा शान्ति, सदा सुख मेरी ज्योतिर्मयी आत्मा के सतत साथी बन जाते हैं।

मैं समत्व योगी होता हूँ, तो सबको—सभी जीवों एवं पदार्थों को यथावत् रूप में समता की दृष्टि से देखता हूँ, सबका हित—चिन्तन करता हूँ और अभिलाषा रखता हूँ कि सभी अपने सम्यक् ज्ञान को जगार्यें, सम्यक् चारित्र को सक्रिय बनायें और समता के प्रशस्त पथ पर बढ़ चलें।

मैं ज्ञानपुंज होना चाहता हूँ और समत्व योग तक सफलतापूर्वक पहुँचना चाहता हूँ, इसी कारण अपने लिए भी चाहता हूँ और सभी भव्य जीवों के लिए भी चाहता हूँ कि ज्ञान और क्रिया (चारित्र) का श्रेष्ठ समन्वय किया जाये और दोनों को एकरूपता में ढालकर आत्मविकास का शक्तिशाली माध्यम बना दें।

मैं अपने ज्ञान और समता (दया और क्रिया) के संयोग से जानता हूँ कि पहले ज्ञान और फिर दया (क्रिया) की आवश्यकता होती है, क्योंकि मैं अपने ज्ञान के प्रकाश में ही सुयोग्य क्रिया का चयन करता हूँ। ज्ञान के बिना ही क्रिया को पकड़ लूँगा, तो मैं उसके सही स्वरूप को नहीं जान पाऊँगा और उस क्रिया की शक्ति को भी नहीं पहचान पाऊँगा कि वह मुझे मेरी आत्म—विकास की महायात्रा में सफलता दिला सकेगी अथवा नहीं। इसके विपरीत केवलज्ञान को ही पकड़ लूँगा, तो प्रकाश अवश्य फँस जायेगा, किन्तु क्रिया के अभाव में गति नहीं पकड़ सकूँगा। प्रकाश में ही सही—लेकिन अपने प्रस्थान के स्थान पर ही ठहरा रहूँगा, तो अपने गंतव्य तक पहुँचुंगा कैसे ? समत्व योग तक पहुँचूँ—उसके लिए मुझे प्रकाश भी चाहिए और गति भी। मुझे न अंधकारपूर्ण गति चाहिए और न प्रकाशपूर्ण स्थिति। मेरा ज्ञान और मेरी समता ही परस्पर जुड़कर मेरी आत्मा को ऊर्ध्वगामी प्रगति प्रदान

करेंगे, क्योंकि ज्ञान और क्रिया की एकरूप क्रियाशीलता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोगी स्वरूप का एक रूपक है। एक बीहड़ जंगल में एक अपंग व्यक्ति पड़ा हुआ था, वह पास के नगर में पहुँचकर सुख से जीवन बिताना चाहता था। उसे नगर तक पहुँचने का सही मार्ग भी मालूम था, लेकिन वह एक कदम भी चल नहीं सकता था, इसलिए नगर में पहुँचे, तो पहुँचे कैसे ? उसकी मार्ग की सही जानकारी और सुख पाने की अभिलाषा भी उसके कुछ काम नहीं आ रही थी। वह असहाय बना चारों ओर नजर घुमा रहा था कि वहीं उसका कोई सहायक मिल जाये। अचानक उसे कुछ दूरी पर एक दूसरा व्यक्ति दिखायी दिया। वह कभी एक पेड़ से टकरा रहा था, तो कभी किसी झाड़ी में गिर रहा था। कभी वह पत्थर से टोकर खा जाता, तो कभी उसका सिर किसी नीची डाल से टकरा जाता। कभी वह गिरते-गिरते बच जाता, तो कभी गिरकर अपने घुटने तोड़ ही डालता। वह लहलुहान था। उसकी वह दुर्दशा देखकर लंगड़ा व्यक्ति चौंक उठा।

उसके दिमाग में एक नया ही विचार कौंधा। वह लंगड़ा व्यक्ति समझ गया कि सामने से आनेवाला व्यक्ति जरूर ही अंधा है। उसने देखा कि इतनी टोकरें खाते रहने पर भी उसके पाँवों में अच्छी ताकत है, क्योंकि तब भी वह काफी स्थिर गति से चल रहा था। उसने विचार किया कि अगर वे दोनों मिल जायें, तो उसकी अभिलाषा पूरी हो सकती है। उसने अंधे व्यक्ति को जोर से पुकारा कि वह उसके पास चला आये। फिर पुकारता रहा, ताकि आवाज के सहारे वह उस तक पहुँच सके। धीरे-धीरे वह अंधा व्यक्ति भी उसके पास पहुँच गया। वह बहुत घबरा रहा था। उसने पूछा— तुम कौन हो? तुमने मुझे यहाँ क्यों बुलाया है? लंगड़ा व्यक्ति उसके हाव-भाव समझकर बोला— पहले मैं पूछूँ कि तुम जंगल में क्या कर रहे थे? अपनी खोज-खबर लेने की हार्दिकता से अंधे व्यक्ति का दिल भर आया, रुंधे हुए कंठ से वह बोला—भाई! तुम देख रहे होगे कि मैं अंधा हूँ। अपनी गलत हठ के कारण मैं घर से रवाना हो गया और इस जंगल में भटक गया। अब तुम्हीं मुझे पार लगा दो और पास के नगर तक पहुँचा दो।

एक टंडी आह भरकर लंगड़े व्यक्ति ने अपनी सहानुभूति का हाथ अंधे व्यक्ति की पीठ पर फिराया और कहा—भाई! तुम देख नहीं पा रहे हो, लेकिन मैं भी तुम्हारी ही तरह अशक्त हूँ। मैं भी पास के नगर तक जाना चाहता हूँ, किन्तु चल नहीं सकता हूँ। मैं अपंग हूँ, इसीलिए यहाँ पड़ा हुआ हूँ। अंधे व्यक्ति की व्याकुलता भी फूट पड़ी—भाई! हम दोनों दुखी हैं, फिर भी क्या हुआ? दोनों मिल जायें, तो कोई न कोई राह निकल ही आयेगी। लंगड़े व्यक्ति ने कहा—राह तो मैंने सोच भी ली है भाई! अगर तुम मान जाओ, तो बेड़ा पार हो सकता है।

अंधा व्यक्ति खुशी के मारे लंगड़े व्यक्ति से लिपट गया, क्योंकि वह अपने अंधेपन के भारी कष्टों को भुगत चुका था और बोला—लो भाई! हम दोनों लिपटकर एक हो गये हैं, अब बताओ राह। लंगड़े व्यक्ति ने तब समझाते हुए कहा—मेरे पाँव नहीं हैं और तुम्हारे पाँव हैं। तुम्हारे आँखें नहीं हैं और मेरी आँखें हैं। मैं तुम्हारी आँखें बन जाऊँ और तुम मेरे पाँव बन जाओ—बस हम दोनों चल पड़ेंगे। फिर जहाँ भी हम पहुँचना चाहेंगे, खुशी से पहुँच सकेंगे।

फिर क्या था? अंधे ने लंगड़े को अपने कंधों पर बिठा लिया। फिर लंगड़ा स्पर्श के संकेतों से अंधे को रास्ता बताता रहा और अंधा अपने मजबूत पाँवों से चलता रहा। एक की चमकदार आँखें और दूसरे के मजबूत पाँव जब तक अलग—अलग थे, दोनों व्यर्थ हो रहे थे और बीहड़ जंगल में पड़े हुए थे—भटक रहे थे। लेकिन जब दोनों एक हो गये, तो गति बन गयी—केवल गति ही नहीं, सुमार्गगामी गति बन गयी।

मैं सोचता हूँ कि ज्ञान लंगड़ा होता है और क्रिया अंधी। ज्ञान चल नहीं सकता और क्रिया देख नहीं सकती। क्रिया बिना ज्ञान ठहरा रहेगा और ज्ञान के बिना क्रिया भटकती रहेगी और जब दोनों एक हो जायेंगे, तो सीधे और सपाट मार्ग पर तीव्र गति से प्रगति कर लेंगे।

मैं ज्ञानपुंज हूँ, इसीलिए ज्ञान को साधता हूँ—प्रकाश की किरणें फैलाता हूँ। ज्ञान के प्रकाश में ही मैं सत्य मार्ग की शोध करता हूँ और अपने शाश्वत गंतव्य का निर्धारण करता हूँ। मैं समत्व योगी

हूँ, तभी तो आचरण की महत्ता को समझता हूँ—गति के आनन्द का अनुभव लेता हूँ। प्रकाश और प्रगति मेरे सहचर बन जाते हैं।

मैं ज्ञानपुंज और समत्व योगी बनने की अपनी आत्मिक शक्ति को पहचान चुका हूँ, तो मेरा दृढ़ विश्वास बनता है कि मैं एक दिन ज्ञान पुंज और समत्व योगी बन भी जाऊँगा।

मैं ज्ञानपुंज और समत्व योगी बन जाऊँगा, किन्तु कब? मैं ज्ञान और क्रिया की समवेत साधना करूँगा और वह भी उन वीतराग देवों की आज्ञा में रहकर—जिन्होंने स्वयं ने ऐसी समवेत साधना सिद्ध की और संसार के समक्ष न सिर्फ अपना आदर्श ही प्रस्तुत किया, अपितु वह सुपथ भी प्रशस्त किया है, जिस पर चलकर सभी भव्य आत्माएँ ज्ञानपुंज और समत्व योगी बन सकती हैं। मैं भी उसी पथ पर अटल निश्चय और निश्चल गति से आगे बढ़ूँगा, मोक्ष—पथगामी बनूँगा।

मोक्ष का राजमार्ग

मेरा ज्ञान सजग बनता है और मैं यह जानना चाहता हूँ कि मोक्ष क्या है? और वहाँ पहुँचने का राजमार्ग कौन सा है? मैं आप्त वचनों का स्मरण करता हूँ और जानता हूँ कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप—ये चारों मोक्ष मार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं, जिनकी आराधना करने से आत्मस्वरूप का विकास होता है। सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा जीव—अजीव आदि तत्वों व पदार्थों को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है, चारित्र द्वारा नवीन कर्मों को आने से रोकती है तथा तप द्वारा पुराने कर्मों को क्षय करके शुद्ध स्वरूपी बनती है।

मैं चिन्तन करता हूँ कि जब मैं जीव, अजीव आदि तत्वों को भलीभाँति जान लेता हूँ, तो सब जीवों को नानाविध नरक, तिर्यच आदि गतियों को भी जान लेता हूँ और तदनुसार पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को भी जान लेता हूँ। जब मैं पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जान लेता हूँ, तो देवता और मनुष्य—सम्बन्धी समस्त काम—भोगों को असार जानकर उनसे विरक्त हो जाता हूँ एवं माता—पिता व सम्पत्ति रूप बाह्य संयोग तथा राग, द्वेष, कषाय रूप आभ्यान्तर संयोग को भी छोड़ देता

हूँ। जब मैं उक्त बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोग को छोड़ देता हूँ, तो मुंडित होकर अनगार वृत्ति (मुनिधर्म) को अंगीकार कर लेता हूँ। जब मुंडित होकर अनगार वृत्ति को अंगीकार करता हूँ, तो मैं सर्व प्राणातिपात आदि विरति रूप उत्कृष्ट संवर-चारित्र धर्म का यथावत् पालन करता हूँ और चारित्र धर्म के इस पालन के साथ मैं मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड़ देता हूँ। कर्म क्षय के पश्चात् अशेष वस्तुओं को विषय करनेवाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति आत्मा को जिन और केवली बनाकर लोक और अलोक का सम्पूर्ण ज्ञान करा देती है। केवल ज्ञानी अपनी स्थिति पूरी होने पर मन, वचन, काया रूप योगों का निरोध करता है तथा शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। तदनन्तर अशेष कर्मों का सर्वथा क्षय करके वह कर्म रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। तब वह सिद्ध गति में रहनेवाला शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

मोक्ष मार्ग पर प्रस्थान करने से लेकर गंतव्य तक पहुँचने का इस प्रकार मैं संक्षिप्त विवरण जानता हूँ और इस पर मनन करता हूँ। इसी का सार रूप संक्षिप्ततम विवरण भी मुझे वीतराग-वाणी में मिलता है, जो इस प्रकार है—(1) सत्संग से धर्मश्रवण, (2) धर्म श्रवण से तत्त्व ज्ञान, (3) तत्त्वज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट तत्त्व बोध), (4) विज्ञान से प्रत्याख्यान (सांसारिक पदार्थों से विरक्ति तथा व्रत ग्रहण), (5) प्रत्याख्यान से संयम, (6) संयम से अनाश्रव (नवीन कर्मागमन का अभाव), (7) अनाश्रव से तप, (8) तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, (9) पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता—सर्वथा कर्मरहित स्थिति और (10) निष्कर्मता से मोक्ष—सिद्धमुक्त अवस्था।

मैं इस रूप में मोक्ष का मार्ग जानता हूँ ज्ञान और क्रिया का—इसमें श्रद्धा को स्थान देने से रत्नत्रय की रचना होती है यानि कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र—ये तीन मोक्ष के मार्ग हैं। तप को चारित्र में समाहित कर लिया जाता है। रत्नत्रय का सरल अर्थ मैं इस रूप में करता हूँ कि मैं सही जानूँ और जो सही जानूँ, उसे मानूँ—उस पर अपनी आस्था बनाऊँ, क्योंकि केवल जानना ही कार्य करने के लिए पर्याप्त नहीं होता — उस जानने को मन से मानना भी जरूरी है। इस प्रकार जो मैं जानूँ और मानूँ, वैसा ही करूँ। तब ज्ञान,

आस्था और कर्म (कार्य) का संगम होता है तथा इनकी एकरूपता साधती है, तब कोई भी साध्य कठिन नहीं रहता। मोक्ष का साध्य भी इनकी उत्कृष्ट साधना से सिद्ध होता ही है।

यों मोक्ष प्राप्ति में पाँच कारणों का संयोग होना भी बताया गया है—(1) काल-समयावधि की परिपक्वता, (2) स्वभाव-अपने भाव में स्थिति की अवस्था, (3) नियति-भाग्य, (4) पूर्वकृत कर्मक्षय-पहले के संचित कर्मों का नाश तथा (5) पुरुषकार-पुरुषार्थ। इनमें से किसी एक, दो या पाँच से कम कारणों के मिल जाने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। पाँचों कारणों का संयोग तद् हेतु आवश्यक है।

मैं जानता हूँ कि अनादि काल से जीव निगोद आदि गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव ऐसे हैं, जिन्होंने स्थावर अवस्था को छोड़कर त्रस अवस्था को भी प्राप्त नहीं किया है। अतः मोक्ष के त्रसत्व आदि पन्द्रह अंग बताये गये हैं, जिनकी प्राप्ति ही बहुत कठिन होती है—

(1) जंगमत्व (त्रसत्व)—निगोद तथा पृथ्वीकाय आदि को छोड़कर जंगम अवस्था (द्विन्द्रिय आदि) को प्राप्त करना।

(2) पंचेन्द्रियत्व—जंगम अवस्था (द्विन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक) से निकलकर पंचेन्द्रियपना प्राप्त होना।

(3) मनुष्यत्व—पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होने के बाद भी नरक, तिर्यच आदि गतियों से निकलकर दुर्लभ मनुष्य भव मिलना।

(4) आर्यदेश—मनुष्य भव भी अनार्य (संस्कृतिविहीन) देश में न मिलकर धर्म संस्कृति से समुन्नत आर्य देश में मिले।

(5) उत्तम कुल—नीच कुल की अपेक्षा धर्म क्रिया की यथासाध्य सामग्री जहाँ प्राप्त हो—ऐसे उत्तम कुल का प्राप्त होना।

(6) उत्तम जाति—पितृपक्ष को कुल और मातृपक्ष को जाति कहते हैं, जिसके अनुसार जाति भी सुसंस्कारयुक्त मिले।

(7) रूप-समृद्धि—पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता, समर्थता एवं सम्पन्नता को रूप समृद्धि कहते हैं, ताकि धर्मराधना यथाविधि की जा सके। विकलांगता से धर्म-क्रियाओं में बाधा पड़ती है।

मोक्ष तत्व का विचार उसके निम्न नौ द्वारों से भी किया जाता है—

(1) सत्पद प्ररूपणा—मोक्ष सत्स्वरूप है, क्योंकि एक पदवाले सभी सत्स्वरूपी होते हैं। इस द्वार का वर्णन चौदह मार्गणाओं द्वारा भी किया जाता है, जो इस प्रकार है—गति (चार), इन्द्रिय (पाँच), काय (छः), योग (तीन), वेद (तीन), कषाय (चार), ज्ञान (आठ), संयम (सात), लेश्या (छः), भव्य (दो), सम्यक्त्व (छः), संज्ञी (दो) तथा आहार (दो)। इन 62 भेदों में से जीव को मोक्ष में पहुँचानेवाली मार्गणाएँ हैं—मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, भव्यसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन। कषाय, वेद, योग, और लेश्या मार्गणाओं से जीव कभी मोक्ष में नहीं जा सकता।

(2) द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं।

(3) क्षेत्र द्वार—लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सब सिद्ध अवस्थित हैं।

(4) स्पर्शन द्वार—लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहे हुए हैं।

(5) काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं।

(6) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं है। सब सिद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान हैं।

(7) भाग द्वार—सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं।

(8) भाव द्वार—सिद्ध जीवों में पाँच भावों में से दो भाव—केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव तथा जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही होते हैं।

(9) अल्प बहुत्व द्वार—सबसे थोड़े नपुंसक सिद्ध, स्त्री सिद्ध उनसे संख्यात गुणे अधिक तथा पुरुष सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार मोक्ष के राजमार्ग तथा मोक्ष के स्वरूप पर मैंने चिन्तन किया है तथा ज्ञान लिया है कि क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब गुणस्थानों के सोपानों (गुणस्थानों का विस्तृत वर्णन आगे इसी अध्याय में है) पर चढ़ती हुई चार घाती कर्मों को नष्ट कर लेती है, तब उसके स्वरूप पर पड़े ज्ञान, दर्शन, मोह और अन्तराय के

आवरण हट जाते हैं तथा उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एवं अनन्त शक्ति के मूल गुण प्रकट हो जाते हैं। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानों में स्थिति पूरी करके आत्मा शेष चार कर्मों का भी क्षय कर लेती है। तब उसमें सिद्धों के चार गुण प्रकट होते हैं—अव्याबाध सुख, अनन्त स्थिति, अरूपित्व तथा अगुरुलघुत्व। यों मुक्तात्मा के आठ गुण हो जाते हैं।

ऐसे मोक्ष रूपी गंतव्य पर कौन भव्य आत्मा जल्दी से जल्दी नहीं पहुँच जाना चाहेगी? किन्तु यह प्राप्ति पुरुषार्थ के बिना संभव नहीं है तथा आत्मा को यह पुरुषार्थ करना पड़ेगा— रत्न-त्रय की साधना में। जानो, मानो और करो का पुरुषार्थी क्रम बिठाना होगा।

रत्नत्रय की साधना

मैंने समझ लिया है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की युति ही रत्नत्रय कहलाती है तथा रत्नत्रय की साधना ही मोक्ष प्राप्ति की साधना होती है। यह विचारणीय तथ्य है कि यह युति सम्यक् होनी चाहिए, वरना बिना सम्यक्त्व के तीनों रत्न नहीं रहते। ज्ञान जीव—मात्र में पाया जाता है तथा ऐसा कोई समय नहीं आता, जब जीव ज्ञान रहित हो जाये, क्योंकि ज्ञान का सर्वथा अभाव हो, तो जीव जीव ही नहीं रहेगा, जड़ हो जायेगा और जीव कभी भी अजीव (जड़) होता नहीं। ज्ञान तो होता ही है, लेकिन वह मिथ्या ज्ञान भी हो सकता है और सम्यक् ज्ञान भी। मिथ्या ज्ञान को अज्ञान भी कहा जाता है। अतः मिथ्या एवं सम्यक् ज्ञान के अन्तर को समझना आवश्यक है। इस अन्तर को एक शब्द में यों कह सकते हैं कि जब ज्ञान सम्यक् दर्शन से युक्त होता है, तब वह सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

इस दृष्टि से मैं समझता हूँ कि आस्था सही होगी, तो ज्ञान भी सही होगा—दर्शन की इस कारण सही होने की अपेक्षा रहती है, क्योंकि दर्शन भी मिथ्या और सम्यक् दोनों प्रकार का हो सकता है। मिथ्या दर्शन रहेगा तब ज्ञान भी मिथ्या ही रहेगा। इसलिए सम्यक्त्व की प्रथम अनिवार्यता मानी गयी है। मोक्ष का अर्थ होता है— आत्म-शक्तियों का सम्पूर्ण विकास। इस दृष्टि से इसका यह अर्थ भी हुआ कि आत्म-शक्ति के विकास में बाधा डालनेवाले तत्त्वों का विनाश। इस

अर्थ के अनुसार सम्यक् ज्ञान वह होगा, जो आत्म-शक्तियों का विकास साधे और मिथ्या ज्ञान वह होगा, जो इस विकास में बाधाएँ खड़ी करे। यह कसौटी है, जिस पर ज्ञान के खरेपन या खोटेपन की हर समय परीक्षा की जा सकती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा अपनी प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति को इस कसौटी पर कसकर उसकी जाँच कर सकती है। जिससे भ्रम या संशय समाप्त किया जा सकता है। वैसे भी सम्यक्त्वधारी आत्मा सदा सत्य की शोध में रत रहती है, जिससे वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ले सके।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि जब ज्ञान और दर्शन दोनों में सम्यक्त्व का समावेश हो जायेगा, तब चारित्र भी निश्चय रूप से सम्यक् बन जायेगा। सम्यक्त्वी आत्मा अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक वासनाओं के पोषण में नहीं करती, अपितु अपने आध्यात्मिक विकास में नियोजित रखती है। किन्तु सम्यक्त्व-रहित आत्मा का व्यवहार इसके विपरीत होता है। कई बार उसका ज्ञान सही भी होता है, किन्तु आस्था सही नहीं होने से वह अपने मत के प्रति दुराग्रही होती है तथा दूसरों की सही सम्मति को भी तुच्छ समझती है। वह अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक वासनाओं की पूर्ति में करती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति का होता है, अतः उसका सारा पुरुषार्थ इसी ओर लगा रहता है, चाहे वह सांसारिक शक्तियों से सम्बन्धित हो अथवा आध्यात्मिक शक्तियों से सम्बन्धित। इस प्रकार उद्देश्यों की भिन्नता के आधार पर ही ज्ञान मिथ्या अथवा सम्यक् कहलाता है।

सम्यक् ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि प्रमाण और नय से होनेवाला जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है, जो वीर्यान्तराय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से उत्पन्न होता है। अतः प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को जानना सम्यक् ज्ञान है। तब यह समझें कि प्रमाण और नय क्या है? जो ज्ञान शब्दों में उतारा जा सके या जिसमें वस्तु को उद्देश्य और विधेय रूप में कहा जा सके, उसे नये कहते हैं। उद्देश्य और विधेय के विभाग के बिना ही जिसमें अविभक्त रूप से वस्तु का भाव हो, उसे प्रमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को जाने, वह प्रमाण ज्ञान है तथा अपनी विवक्षा से किसी एक

अंश को मुख्य मानकर व्यवहार करना नय है। नय और प्रमाण दोनों ज्ञान हैं, किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करनेवाला नय है और अनेक धर्मावाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना प्रमाण है। जैसे दीपक में नित्य धर्म भी रहता है और अनित्य धर्म भी। यहाँ अनित्यत्व का निषेध न करते हुए अपेक्षावश दीपक को नित्य कहना नय है। प्रमाण की अपेक्षा दीपक नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्मावाला होने से उसे नित्यानित्य कहा जायेगा।

नयों के निरूपण का अर्थ है— विचारों का वर्गीकरण, अतः नयवाद का अर्थ हुआ— विकारों की मीमांसा। इस वाद में विचारों के कारण, परिणाम या विषयों की पर्यालोचना मात्र नहीं है। वास्तव में परस्पर विरुद्ध दीखनेवाले, किन्तु यथार्थ में अविरोधी विचारों के मूल कारणों की खोज करना ही नयवाद का मूल उद्देश्य है। नय के संक्षेप में दो भेद हैं—(1) द्रव्यार्थिक नय—वस्तु के सामान्य अंश पर किया गया विचार तथा (2) पर्यायार्थिक नय—वस्तु के विशेष अंश पर किया गया विचार। पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार करते समय दोनों प्रकार के नय उपयोग में लिये जाते हैं। नय के विशेष रूप से सात भेद हैं— (1) नैगम नय—जो विचार लौकिक रूढ़ि या संस्कार का अनुसरण करे, (2) संग्रह नय—जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं या व्यक्तियों में रहे हुए किसी एक सामान्य तत्व के आधार पर सबमें एकता बताये, (3) व्यवहार नय—जो विचार संग्रह नय के अनुसार एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तुओं में व्यावहारिक प्रयोजन के लिए भेद डाले। ये तीनों नय सामान्य दृष्टि के होने से द्रव्यार्थिक वर्ग में आते हैं। (4) ऋजुसूत्र नय—जो विचार भूत और भविष्य काल की उपेक्षा करके वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, (5) शब्द नय—जो विचार शब्द प्रधान हो और लिंग, कारक आदि शाब्दिक धर्मों में भेद माने, (6) समभिरूढ़ नय—जो विचार शब्द के रूढ़ अर्थ पर निर्भर न रह कर व्युत्पत्ति के अर्थानुसार समान अर्थवाले शब्दों में भी भेद माने तथा (7) एवंभूत नय—जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही वस्तु को उस रूप में स्वीकार करे।

प्रमाण और नय से जाने गये वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर ही अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सिद्धान्त आधारित है। वस्तु के विभिन्न

धर्मों को जानकर उनका समन्वय करना स्याद्वाद है, क्योंकि स्याद्वाद पहले वस्तु-धर्म के सारे पहलुओं की जानकारी कर लेता है। सभी पहलुओं को सप्तभंगी के रूप में बताया जाता है—(1) कथंचित् है, (2) कथंचित नहीं है, (3) कथंचित् है और नहीं है, (4) कथंचित कहा नहीं जा सकता, (5) कथंचित है, फिर भी कहा नहीं जा सकता, (6) कथंचित् नहीं है, फिर भी कहा जा सकता तथा (7) कथंचित् है, नहीं है, फिर भी कहा नहीं जा सकता। वस्तु के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक पर्याय के धर्मों का उक्त रूप में सात प्रकार का ही होने से व्यस्त और समस्त, विधि व निषेध की कल्पना से सात ही प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं, अतः सात ही प्रकार के उत्तर सप्तभंगी में दिये गये हैं।

प्रमाण की परिभाषा यह बतायी गयी है कि सच्चा ज्ञान अपना और दूसरों का निश्चय कराता है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को सब दृष्टिबिन्दुओं से जानता है अर्थात् वस्तु के सभी अंशों को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं। इसके चार भेद कहे गये हैं—

(1) प्रत्यक्ष-अक्ष का अर्थ आत्मा और इन्द्रिय है। अतः इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान होता है और इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाला इन्द्रिय ज्ञान होता है। दोनों ही प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मा की सहायता से होनेवाला ज्ञान निश्चय में तथा इन्द्रियों की सहायता से होनेवाला ज्ञान व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

(2) अनुमान-लक्षण या कारण को ग्रहण करके सम्बन्ध या व्याप्ति के स्मरण से पदार्थ का जो ज्ञान होता है यानि साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है।

(3) उपमान-जिसके द्वारा सदृशता से उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे गवय गाय के समान होता है।

(4) आगम-शास्त्र द्वारा होनेवाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है।

में नय और प्रमाण के विश्लेषण से यह जान पाया हूँ कि वीतराग देवों ने आत्मा को स्वतंत्र विचार एवं निर्णय का कितना

विशाल क्षेत्र सौंपा है? मात्र आगम प्रमाण के सिवाय सभी प्रमाण और नय की कसौटी पर आत्मा को ही सम्यक्त्व का ज्ञान करना होता है और उसी रूप में अपनी वृत्तियों को परखकर निर्णय लेना होता है। इस दृष्टि से आत्मा प्रत्येक वस्तु-स्वरूप पर स्वयं चिन्तन करे और निर्णय ले, जिसका समाधान सम्यक्त्व की कसौटी पर और आगम प्रमाण के अनुसार किया जा सकता है।

मूलतः ज्ञान एवं दर्शन के समन्वित रूप को उपयोग कहा गया है। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों अर्थात् जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है, वह ज्ञान है। जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म यानि सत्ता का ग्राहक है, वह दर्शन है। ज्ञान साकार उपयोग और दर्शन निराकार उपयोग होता है।

ज्ञान के दो भेद किये गये हैं—(1) प्रत्यक्ष व (2) परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से जो ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जैसे अवधि, मनःपर्यय व केवल ज्ञान। इन्द्रियों और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह परोक्ष ज्ञान है। जैसे मति व श्रुत ज्ञान। इस रूप में ज्ञान के पाँच भेद हुए।

(1) मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश में रही हुई वस्तु को जाननेवाला ज्ञान। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं—(अ) अवग्रह—सामान्य प्रतिभास के बाद होनेवाला अवान्तर सत्ता सहित वस्तु का सर्वप्रथम ज्ञान। जैसे दूर से किसी चीज का ज्ञान होना। (ब) ईहा—सर्वप्रथम ज्ञान में संशय को दूर करते हुए विशेष की जिज्ञासा। दूर से देखनेवाली चीज मनुष्य है या पशु? ऐसा संशय दूर करके यह जान लेना कि वह मनुष्य होना चाहिए। (स) अवाय—ईहा से जाने हुए पदार्थों में 'यह वही है, अन्य नहीं है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान। जैसे यह मनुष्य ही है। (द) धारणा—अवाय से जाने हुए पदार्थों के ज्ञान का दृढ़ हो जाना कि जो विस्मृत न हो।

(2) श्रुतज्ञान—वाच्य—वाचक—भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण करानेवाला इन्द्रिय और मन के कारण से होनेवाला ज्ञान। यह ज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द और अर्थ की

पर्यालोचना से उत्पन्न होता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर या आँख से घड़े को देखने पर उसके बनानेवाले का, उसके रंग का और इसी प्रकार के उससे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न विषयों का विचार करना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं—(1) अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान—जिन आगमों में गणधरों ने तीर्थकर भगवान के उपदेश को ग्रंथित किया है, उन आगमों को अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमें आचारांग आदि बारह अंगों का ज्ञान सम्मिलित है। (2) अंगबाह्य श्रुतज्ञान— द्वादशांगों के बाहर का शास्त्र ज्ञान बाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

(3) अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा लिए हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान। यह मर्यादा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की होती है। इसके दो प्रकार हैं—(1) भवप्रत्यय अवधिज्ञान—जिस अवधिज्ञान के होने में भव ही कारण हो। जैसे नारकियों व देवताओं को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है। (2) क्षयोपशमप्रत्यय अवधिज्ञान—ज्ञान, तप आदि कारणों से मनुष्यों और तिर्यचों को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। इसे गुण-प्रत्यय या लब्धि-प्रत्यय भी कहते हैं।

(4) मनःपर्यय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का ज्ञान। इसके दो प्रकार हैं—(1) ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान—दूसरे के मन में सोचे हुए भावों को सामान्य रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने घड़ा लाने का विचार किया है। (2) विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान—दूसरे के मन में सोचे हुए पदार्थ के विषय में विशेष रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने अमुक रंग का, अमुक आकारवाला या अमुक समय में बना घड़ा लाने का विचार किया है। विचार की विशेष पर्यायों व अवस्थाओं को जानना।

(5) केवलज्ञान—मति आदि ज्ञान की अपेक्षा के बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपद् हस्तामलकवत् (एक साथ हाथ में रखे हुए आंखों के समान) जाननेवाला ज्ञान। केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है।

सम्यक् ज्ञान की महत्ता को हृदयंगम करते हुए मैं जानता हूँ

कि पहले ज्ञान और उसके बाद क्रिया। यह आत्मा सुनकर कल्याण का मार्ग जानती है और सुनकर ही पाप का मार्ग जानती है, अतः साधक का कर्तव्य है कि दोनों मार्गों का श्रवण करे और जो श्रेयस्कर प्रतीत हो, उसका आचरण करे। जैसे धागा पिरोई हुई सूई कचरे में पड़ जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार श्रुतज्ञानवाली आत्मा संसार में रहकर भी आत्म-स्वरूप को नहीं भुलाती है। ज्ञान इस दृष्टि से आत्म-विकास का प्रकाश स्तंभ होता है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक् दर्शन कहा है, जो मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। सम्यक् दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। सम्यक् दर्शन हो जाने पर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रयत्न किया जाता है, शरीर को आत्मा से अलग समझा जाता है तथा सांसारिक भोगों को दुःखमय एवं निवृत्ति को सुखमय माना जाता है। सम्यक् दर्शन से आत्मा में ये गुण प्रकट होते हैं—(1) प्रशम, (2) संवेग, (3) निर्वेद, (4) अनुकम्पा एवं (5) आस्तिक्य।

मैं सम्यक् दर्शन की शुभ भावनाओं से जब अभिभूत होता हूँ, तो मेरी आस्था दृढ़तर बन जाती है कि जिन्होंने राग-द्वेष, मद, मोह आदि आत्म-शत्रुओं को जीत लिया है, वे वीतराग देव मेरे सुदेव हैं, पाँच महाव्रत पालनेवाले सच्चे साधु मेरे सुगुरु हैं तथा राग-द्वेष रहित वीतराग देवों द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूपमय धर्म ही मेरा सुधर्म है।

मैं मानता हूँ कि दृढ़ विश्वास और श्रद्धा सफलता की कुंजी होती है तथा सभी प्रकार की आधि-भौतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धियों के लिए तो आत्म-विश्वास परमावश्यक है। मोक्ष के लिए भी यह आवश्यक है कि मोक्ष के उपाय में दृढ़ विश्वास हो और यही सम्यक् दर्शन है। विश्वास में जो व्यक्ति डौँवाडोल रहता है या हो जाता है, उसकी सफलता भी संदिग्ध बन जाती है। इसलिए सम्यक् दर्शन के पाँच दोष बताये गये हैं—(1) शंका-मार्ग में सन्देह करना, (2) कांक्षा-मोक्ष के निश्चित मार्ग को छोड़कर दूसरी बातों की इच्छा करना, (3) वित्तिगिच्छा-धर्माराधन के फल में सन्देह करना, (4) परपाखंडप्रशंसा

—धर्महीन ढोंगी (पाखंडी) की लौकिक ऋद्धि को देखकर उसकी प्रशंसा करना तथा (5) परपाखंडसंस्तव—ऐसे ढोंगी का परिचय करना तथा उसके पास अधिक उठना—बैठना। सम्यक् दर्शन का अर्थ अन्धविश्वास मैं कतई नहीं मानता हूँ, क्योंकि अन्धविश्वास का अर्थ होता है—हिताहित, सत्यासत्य अथवा सदोष—निर्दोष का भान नहीं रखना तथा अपने मत का हठ पकड़कर बैठ जाना। जबकि सम्यक् दर्शन का अर्थ है कि जो वस्तु—स्वरूप सत्य हो, उसी पर दृढ़ विश्वास करना। मैं सम्यक् दर्शन का श्रद्धान यही मानता हूँ कि जीव आदि तत्वों का ज्ञान प्राप्तकर उसका मनन करना, परमार्थ का यथार्थ स्वरूप जाननेवाले महात्माओं की सेवा—भक्ति करना तथा सम्यक्त्व से गिरे हुए पुरुषों एवं कुदार्शनिकों की संगति नहीं करना। सम्यक्त्व—विहीन पुरुष को सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र—गुण प्रकट नहीं होते। गुणरहित पुरुष का सर्व कर्मक्षय रूप मोक्ष नहीं होता। यह भी कहा है कि चारित्रभ्रष्ट आत्मा भ्रष्ट नहीं है, पर दर्शनभ्रष्ट आत्मा ही वास्तव में भ्रष्ट है। सम्यक् दर्शन धारी आत्मा संसार में परिभ्रमण नहीं करती। सम्यक्त्व—धारी आत्मा की भावना सम्यक् होती है।

दर्शन के चार प्रकार बताये गये हैं—(1) चक्षु दर्शन—दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। (2) अचक्षुदर्शन—अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षु दर्शन कहते हैं। (3) अवधि दर्शन—अविधि दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, वह अवधि दर्शन है तथा (4) केवल दर्शन—केवल दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा द्वारा संसार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे केवल दर्शन कहते हैं।

कर्मी का नाश करने की चेष्टा को मैं चारित्र धर्म कहता हूँ, जिसका कारण मूल गुणों तथा उत्तर गुणों का समूह भी है, तो धर्म

सम्बन्धित क्रियाएँ भी। मैं अनुभव करता हूँ कि आत्म-विकास के मार्ग पर चलनेवाले सभी लोग समान शक्तिवाले नहीं होते। कोई इतना दृढ़ होता है, जो मन, वचन और काया से सब पापों का त्यागकर एकमात्र आत्म-विकास को अपना ध्येय बना लेता है। दूसरा कुछ कम दृढ़ और ऐसा होता है कि सांसारिक इच्छाओं को एकदम रोकने का सामर्थ्य नहीं होने से धीरे-धीरे त्याग करता है। इसी तारतम्य के अनुसार चारित्र के दो भेद किये गये हैं—

(1) सर्व विरति चारित्र, अणुगार धर्म या साधु धर्म—सर्वविरति रूप धर्म में पंच महाव्रत होते हैं तथा तीन करण, तीन योग (मन, वचन, काया तीनों से न करना, न करवाना तथा न करने का अनुमोदन करना) से त्याग होता है। साधु सदोष क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग करता है। पूर्ण होने से ही उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। ये पाँच होते हैं।

(2) देशविरति चारित्र, सागार धर्म या श्रावक धर्म—श्रावक द्वारा आगार सहित व्रतों के पालन को देशविरति चारित्र कहते हैं। पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न होने पर भी त्याग की भावना होने से श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादित त्याग करता है। साधु की अपेक्षा छोटे होने से श्रावक के व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। ये बारह होते हैं।

मेरी मान्यता है कि मूल रूप से विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं, जो अन्य जन्म में ग्रहण किये हुए कर्म संचय को दूर हटाने के लिए मोक्षाभिलाषी आत्मा को सर्वसावद्य योग से निवृत्त करता है। अन्य अपेक्षा से इसके पाँच भेद हैं—

(1) सामायिक चारित्र—आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा से होनेवाली आत्मविशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है। सामायिक के क्रियानुष्ठान से आत्मा जन्म-मरण के चक्र से होनेवाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करती है, चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के सुखों का तिरस्कार करती है और निरुपम सुख पाती हुई ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की श्रेष्ठ पर्यायों को प्राप्त होती है। सामायिक चारित्र का अर्थ है—सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना। यों तो चारित्र के सभी भेद सावद्य-योग-विरति रूप हैं और

वैसा भेद सामायिक भी है, किन्तु जहाँ दूसरे भेदों के साथ छेद आदि विश्लेषण होने से नाम और अर्थ से भिन्न बताये गये हैं, वहाँ सामायिक सामान्य रूप ही है। सामायिक के दो भेद हैं—(1) इत्वरकालिक सामायिक—अल्प काल की सामायिक, जिसमें भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश हो। पहले और अन्तिम तीर्थकरों के तीर्थ में जब तक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता, तब तक उसके इत्वरकालिक सामायिक होती है तथा (2) यावत् कथिक सामायिक— यावज्जीवन की सामायिक जो शेष बावीस तीर्थकरों के तीर्थ में होती है, क्योंकि इन शिष्यों को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता।

(2) छेदोपस्थापनिक चारित्र—पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते हैं। इसमें पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थान—आरोपण होता है। यह चारित्र प्रथम एवं अन्तिम तीर्थकरों के तीर्थ में ही होता है। इसके भी दो भेद कहे गये हैं—(1) निरतिचार छेदोपस्थापनिक—जो इत्वर सामायिकवाले शिष्य के एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जानेवाले साधुओं के व्रतों के आरोपण में होता है तथा (2) सातिचार छेदोपस्थापनिक—जो मूल गुणों की घात करनेवाले साधुओं के व्रत के आरोपण में होता है।

(3) परिहार विशुद्धि चारित्र—जिस चारित्र में परिहार तप से कर्म निर्जरा रूप शुद्धि होती है। इसमें अनैषणीय आदि का परित्याग विशेष रूप से शुद्ध होता है। स्वयं तीर्थकर भगवान के सामने पहले जिसने यह चारित्र अंगीकार किया हो, उसके पास ही यह प्रकार भी अंगीकार किया जाता है। नव साधुओं का गण परिहार तप अंगीकार करता है—इनमें से जो चार तप करते हैं, वे पारिहारिक कहलाते हैं। जो चार वैयावृत्य करते हैं, वे अनुपारिहारिक कहलाते हैं। परिहार तप का कल्प अष्टारह मास में पूर्ण होता है। इस तप के भी दो प्रकार हैं—(1) निर्विष्यमानक परिहार तप—तप करनेवाले पारिहारिक साधु निर्विष्यमानक कहलाते हैं और उनका चारित्र निर्विष्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र एवं (2) निर्विष्टकायिक परिहार तप—तप करके वैयावृत्य करनेवाले अनुपारिहारिक साधु और तप करने के बाद गुरु पद पर रहा

हुआ साधु निर्विष्टकायिक कहलाता है तथा उसका चारित्र निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

(4) सूक्ष्म सम्यपराय चारित्र—जिस चारित्र में सम्पराय (कषाय) सूक्ष्म अर्थात् संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश रहता है। इसके दो भेद हैं—(1) विशुद्धयमान—क्षपक श्रेणी एवं उपशम श्रेणी पर चढनेवाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका चारित्र सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विशुद्धयमान कहलाता है, तथा (2) संकिलश्यमान—उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम संकलेशयुक्त होते हैं, इसलिए उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र संकिलश्यमान कहलाता है।

(5) यथाख्यात चारित्र—सर्वथा कषाय का उदय न होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र होता है। इसके भी दो भेद हैं—छद्मस्थ यथाख्यात व केवली यथाख्यात। इन दोनों के भी दो-दो प्रकार हैं— (1) जो चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होता है, वह उपशांत छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र होता है तथा (2) जो चारित्र मोहनीय कर्म की पूर्ण प्रकृतियों के क्षय से प्राप्त होता है, साथ ही अप्रतिपाति भी होता है। यह केवल ज्ञान के पूर्व की अवस्था होती है।

संयम में बाधक कथा को विकथा कहते हैं। चारित्र विकथा के सात भेद हैं—(1) स्त्री कथा— काम विकार को बढ़ानेवाली स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा करना, जिसमें प्रशंसा और निन्दा दोनों शामिल है। यह जाति कथा, कुल कथा, रूप कथा और और वेश कथा के रूप में हो सकती है। स्त्री कथा करने व सुननेवालों को मोह की उत्पत्ति होती है और लोक में भी निन्दा होती है। इससे सूत्र और अर्थ के ज्ञान में हानि होती है, ब्रह्मचर्य में दोष लगता है, संयम से पतन होता है तथा साधु वेश में रहकर अनाचार सेवन करके कुलिंगी हो जाता है।

(2) भक्त (भात) कथा—आहार सम्बन्धी चर्चा करने से उसमें गृद्धि होती है और आहार किये बिना ही गृद्धि (आसक्ति) के कारण साधु को दोष लगते हैं। इससे लोकनिन्दा भी होती है कि यह साधु जितेन्द्रिय नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान आदि छोड़कर आहार की चर्चा

करता है। आसक्ति भाव से उसे षट्जीव निकाय के वध की अनुमोदना भी लगती है और उसका एषणा शुद्धि का विचार भी ढीला होता है। भक्त कथा भी चार प्रकार की होती है—आवाय कथा (भोजन बनाने की विधि की कथा), निर्याय कथा (अन्न, व्यंजन की विविधता की कथा), आरंभ कथा (जीव हिंसा सम्बन्धी कथा बनाने में) तथा निष्ठात्र कथा (भोजन में लागत की कथा रूप्यों की)।

(3) देश कथा—देश कथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या दूसरे देश से अरुचि होती है, जो कर्म बंध का कारण बनता है। स्वपक्ष व परपक्ष की चर्चा में वाद—विवाद से कलह भी खड़ा हो सकता है तथा कई प्रकार के दोष लग सकते हैं। इसके भी चार भेद हैं—देशविधि कथा (देश विशेष के भोजन, मणि, भूमि आदि की चर्चा), देश विकल्प कथा (देश विशेष में धान्य उत्पत्ति, सिंचाई साधन, भवन आदि की चर्चा), देश छंद कथा (गम्य, अगम्य विषयक चर्चा) तथा देश नेपथ्य कथा (स्त्री—पुरुषों के स्वभाव, शृंगार आदि की चर्चा)।

(4) राज कथा—राजा या राज्य से सम्बन्धिक राजनैतिक चर्चा करना। इसके भी चार प्रकार हैं—अतियान कथा (राजा के नगर प्रवेश व वैभव का वर्णन), निर्याण कथा (नगर से बाहर जाने व ऐश्वर्य का वर्णन), बल—वाहन की कथा (राजा की चतुरंगिणी सेना, वाहन आदि का वर्णन) तथा कोष और कोठार की कथा (राजा के खजाने और भंडार का वर्णन)।

(5) मृदुकारुणिकी—पुत्र आदि के वियोग से दुःखी माता आदि के करुण—क्रन्दन की चर्चा।

(6) दर्शनभेदिनी—दर्शन यानि सम्यक्त्व में दोष लगे— ऐसी चर्चा करना। जैसे ज्ञान आदि की अधिकता के कारण कुतीर्थी की प्रशंसा करना।

(7) चारित्रभेदिनी—चारित्र की उपेक्षा या निन्दा करनेवाली चर्चा करना। जैसे आज—कल साधु महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते, साधुओं में प्रमाद बहुत बढ़ गया है, आदि।

चारित्र शुद्धि की दृष्टि में धर्मकथा को ही महत्व दिया गया है। यह कथा—चर्चा दान, दया, क्षमा आदि धर्म के अंगों का वर्णन

करनेवाली तथा धर्म की उपादेयता बतानेवाली होनी चाहिए। यह चार प्रकार की है—आक्षेपणी (आचार, व्यवहार, प्रज्ञाप्ति और दृष्टिवाद की अपेक्षा से श्रोता को मोह से हटाकर तत्त्व की ओर आकर्षित करना), विक्षेपणी (अपने सिद्धान्त के गुणों, स्थापना, अभिप्राय और आस्तिक्य बताकर श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाना), संवेगनी (इहलोक, परलोक, स्व-शरीर और पर-शरीर के भेदों से श्रोता में विपाक की विरसता बताकर वैराग्य उत्पन्न करना) तथा निर्वेदनी (भव-भवान्तरों की कर्मफल विचित्रता का वर्णन करके श्रोता में पाप-पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर संसार से उदासीनता पैदा करना)।

मैं इससे रत्नत्रय की महत्ता को जानता हूँ और विचार करता हूँ इसकी सम्यक् साधना कितनी निष्ठा, वैचारिक, विवेक, संयम तथा तपाराधना से की जानी चाहिए, क्योंकि इसी का शुभ परिणाम मोक्ष-प्राप्ति में प्रतिफलित होता है।

संसार से मोक्ष कितनी दूर ?

मैंने मोक्ष का स्वरूप जाना है, मोक्ष के राजमार्ग पर आगे बढ़ानेवाली रत्न-त्रय की साधना के स्वरूप को पहचाना है और अब मैं सोचता हूँ कि संसार से मोक्ष की कितनी दूरी है—इसको भी समझ लूँ। मोक्ष प्राप्ति ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है—इस दृष्टि से यदि मैं मोक्ष की दूरी का अनुमान लगा लूँ तो अपनी गति की त्वरितता पर ध्यान दे सकूँगा।

संसार से मोक्ष की कितनी दूरी है—यह ज्ञान कोई संख्यात्मक नहीं है कि इतने कोस या मील है, सो अमुक गति से चलेंगे तथा इतने समय में उसे पार लेंगे। वस्तुतः यह दूरी गुणात्मक है—पथिक या साधक की स्वयं की गुणपूर्ण साधना पर आधारित है। यह गुणों की साधना जब भी परमोत्कृष्ट बन पड़ेगी, तभी मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। यों इस आत्मा को संसार के जन्म-मरण के चक्र में भ्रमित होते हुए अनन्त समय हो गया है और साधना की परिपक्वता न बन पड़े, तो अनन्त समय और निकल सकता है और यों इस साधना की परमोत्कृष्टता सध जाये, तो मोक्ष की दूरी कुछ ही पलों में दूर हो सकती है।

इसमें भी मैं एक तथ्य पर और सोचता हूँ और वह तथ्य यह है कि इस संसार की सभी आत्माएँ कभी न कभी मोक्ष में चली जायेंगी? यदि कभी न कभी सभी आत्माएँ मोक्षगामी बन जायेंगी, तो क्या संसार का अन्त आ जायेगा? आप्त-वचनों के अनुसार ऐसा कभी नहीं होगा। आत्माओं के दो वर्ग माने गये हैं—एक तो भवी आत्माएँ और दूसरी अभवी आत्माएँ। भवी आत्माओं में तो कभी न कभी मोक्ष पद प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य माना गया है, परन्तु अभवी आत्माएँ कदापि मोक्ष में नहीं जायेंगी। वे इस दृष्टि से सामर्थ्य-हीन आत्माएँ हैं। जैसे चने भिगोये जाते हैं और काफी समय तक भीगते रहने के बाद भी उनमें जो कोरडू (बिना भीगे चने) रह जाते हैं, वे पानी में कितनी ही देर रखे जायें, तब भी भीगते नहीं। उसी प्रकार अभवी आत्माएँ धर्म-रस में कभी भी भीगती नहीं और धर्म-रस में भीगती नहीं, तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकती नहीं। इस प्रकार भवी आत्माओं का वर्ग ही मोक्ष प्राप्ति की साधना को सफल बना सकता है और साधना की सफलता उनकी अपनी गुण-विकास-शक्ति पर निर्भर करती है। पर भव्यात्माएँ भी संसार में अनन्त होने से अनन्त भव्यात्माओं के मोक्ष जाने पर भी, संसार कभी भी भव्यात्माओं से खाली नहीं होगा, क्योंकि अनन्त भी अनन्त प्रकार का होता है और अनन्त का कभी अन्त नहीं होता।

मैं सोचता हूँ कि संसार से मोक्ष की दूरी इस रूप में भव्यात्माएँ ही पार करती हैं, इसीलिए इन्हें भव्यात्माएँ कहा गया है। किन्तु भव्य और अभव्य आत्माएँ दोनों गुणों के स्थानों या सोपानों पर चढ़ती-उतरती हैं और अपनी भाव-सरणियों की उच्चता एवं निम्नता के अनुसार ऊपर नीचे होती रहती हैं। कभी-कभी तो बहुत ऊँचाई तक ऊपर चढ़कर भी कई आत्माएँ संसार-मोह के धक्कों में विचलित हो जाती हैं और बहुत नीचे तक गिर जाती हैं। विरली भव्य आत्माएँ ही अपनी सुस्थिर गति से ऊपर तक चढ़ती जाती हैं और अन्ततोगत्वा सभी गुण के स्थानों को पार करती हुई मोक्ष के परम पद को प्राप्त कर लेती हैं।

यह सब सोचकर जब मैं ध्यानमग्न होता हूँ, तो मुझे अनुभूति होती है कि मैं संसार से मोक्ष की इस दूरी को अवश्य ही पार कर सकूँगा और वह भी यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र। मेरी यह अनुभूति ही मुझे अपने आत्म-गुणों के विकास की सबल प्रेरणा देती है। इसी अनुभूति

के प्रभाव से मैं घनान्धकार में खड़ा हुआ भी प्रकाश की किरणों देखता हूँ, प्रकाश पाने के लिए मचलता हूँ और प्रकाश को आत्मसात करने लगता हूँ। प्रकाश की इस दौड़ में मेरे भीतर और बाहर का समूचा वातावरण प्रकाशमय होने लगता है। ज्यों-ज्यों प्रकाश का घनत्व और उसकी तेजस्विता अभिवृद्ध होती है, त्यों-त्यों मेरी आत्मा ऊर्ध्वगामी बनती है। यह ऊर्ध्वगामी ही उसका मूल स्वभाव या धर्म होता है, जिसकी प्राप्ति के साथ वह गुणों के सोपानों पर भी ऊपर से ऊपर तक चढ़ती हुई चली जाती है।

मुझे इसी प्रकाश की अपेक्षा है। मैं अंधकार से इसी प्रकाश में आगे से आगे बढ़ते रहने का दृढ़ इच्छुक हूँ। मैं अंधकार से जागता हूँ और उससे दूर हटता हूँ, तो सांसारिक मोह-व्यामोह से दूर होता हूँ तथा उसी परिमाण में कर्म-बंधनों से मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ता हूँ। इसका अर्थ होता है कि मैं विषय-कषाय की आग से दूर होता हूँ और सत्कृत्यों की शीतलता को प्राप्त करता हूँ। अशान्ति से दूर होता हूँ और शान्ति का रसास्वादन करता हूँ। दुःखों की असह्य वेदना को भूलता हूँ और आत्म-सुख की अनुभूति लेता हूँ। यही अवस्था गुण-विकास की होती है।

आत्मा के गुण विकास की अवस्थाएँ

आत्मा के गुण-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान मैं अपने लिए आवश्यक मानता हूँ, क्योंकि यह ज्ञान ही मुझे संसार से मोक्ष तक की दूरी के बीच में पड़नेवाले मील के पत्थरों की जानकारी देता है। वीतराग देवों ने ये मील के पत्थर चौदह की संख्या में बताये हैं और यह भी बताया है कि किस प्रकार की साधना के बल पर एक मील के पत्थर से दूसरे मील के पत्थर तक पहुँचा जा सकता है और अपनी प्रगति की निरन्तरता को कैसे बनायी हुई रखी जा सकती है? साधना की उस उत्कृष्टता का स्वरूप भी समझाया गया है कि जिसकी सफल क्रियान्विति से ऊपर की ऊँची चढ़ाई पर पहुँच जाने के बाद पाँव फिसलकर नीचे की ढलान पर वापस लुढ़क जाने से भी बचा जा सकता है। इन ऊर्ध्वगामी सोपानों को गुणस्थान नाम से पुकारा गया है, जो चौदह हैं—

गुणस्थानों का द्वारों से विचार

मेरी मान्यता है कि आत्मिक गुणों के इन स्थानों का सभी अपेक्षाओं से विचार किया जाना चाहिए, ताकि उनका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो सके। ये सारे गुणस्थान कषाय की तारतम्यता पर प्रमुखतः आधारित हैं। अतः कषाय के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, स्थिति, क्रिया, निर्जरा आदि का ज्ञान आवश्यक है।

(1) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—जैसे पीलिये के रोगवाले को सफेद रंग की वस्तु भी पीली दिखायी देती है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टिवाली आत्मा वस्तुस्वरूप को विपरीत रूप में देखती है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान की ऐसी विपरीत दृष्टि बनती है। मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में सुगुरु बुद्धि तथा कुधर्म में धर्म बुद्धि रखती है। आत्मा की इसी अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

आश्रव के पाँच भेदों में पहला मिथ्यात्व है, जो कर्मों के आगमन का मुख्य स्रोत होता है। इस विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व के पाँच भेद होते हैं—1. आभिग्रहिक—सिद्धान्त का पक्षपातपूर्ण मंडन व खंडन। 2. अनाभिग्रहिक—गुण—दोष देखे बिना सब सिद्धान्तों को समान बतलाना। 3. आभिनिवेशिक—अपने पक्ष को असत्य जानते हुए दुराग्रह करना। 4. सांशयिक—देव—गुरु के स्वरूप में शंका लाना तथा 5. अनाभोगिक—इन्द्रिय—विकल जीवों को रहनेवाला मिथ्यात्व। यों मिथ्यात्व दस माने गये हैं, जो धर्म, मार्ग, जीव, साधु तथा मुक्तात्मा से सम्बन्धित हैं। यह विपरीत श्रद्धान आत्म—गुणों को निकृष्ट स्थान रूप पहले गुणस्थान में पतित बनाये रखता है।

(2) सास्वादान सम्यक्दृष्टि गुणस्थान—जो आत्मा औपशमिक सम्यक्त्ववाली है, किन्तु अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुकती है, वह आत्मा जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती, तब तक सास्वादान सम्यक्दृष्टि कहलाती है और उसकी इस प्रकार की अवस्था से इस दूसरे गुणस्थान का नाम और लक्षण है। यद्यपि आत्मा का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि खीर खाकर उसका वमन करनवाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद

अनुभव में आता है, उसी प्रकार वैसी आत्मा को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है।

(3) मिश्र गुणस्थान—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जब आत्मा की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, तब इस सम्यक्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र) का अस्तित्व रहता है। इस में अनन्तानुबंधी कषाय का उदय नहीं रहने से आत्मा में शुद्धता, तो मिथ्यात्व मोहनीय के अर्थ विशुद्ध पुंज का उदय हो जाने से अशुद्धता भी रहती है। जैसे गुड़ मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, वही अवस्था आत्मा के श्रद्धान की होती है, जो कुछ सच्चा और कुछ मिथ्या होता है। इस कारण से आत्मा वीतराग देवों द्वारा उपदेशित तत्वों पर न तो एकान्त रुचि रखती है और न ही एकान्त अरुचि। जैसे नारियलवाले द्वीप के निवासी चावल नहीं जानते, सो उसके स्वाद में न रुचि रखते हैं, न अरुचि। वही अवस्था आत्मा की इस गुणस्थान में वीतराग मार्ग पर होती है। किन्तु यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त ही रहती है, फिर सम्यक्त्व या मिथ्यात्व— इन दोनों में से जिसकी स्थिति प्रबल होती है, उधर आत्मा मुड़ जाती है। अतः इस तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही मानी गयी है।

(4) अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—जो आत्मा सम्यक् दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम को धारण नहीं कर सकती, वह इस गुणस्थान में रहती है। सावद्य व्यापारों को छोड़ देना और पापजनक कार्यों से अलग हो जाना—यह विरति कहलाता है और यही चारित्र एवं व्रत होता है। इस गुणस्थान में आत्मा अविरति रूप रहती है, जिसके सात प्रकार हो सकते हैं—1. जो लोग व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं, 2. ऐसे साधारण लोग जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं, किन्तु पालते हैं, 3. ऐसे अपने आप निर्णय लेनेवाले बाल तपस्वी जो व्रतों को जानते नहीं, किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार करके पालते नहीं, 4. ऐसे ढीले पासत्थे साधु संयम लेकर निभाते नहीं, 5. जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार और पालन बराबर करते हैं, ऐसे अगीतार्थ मुनि, 5. जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नहीं करते, 6. जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु पालन करते हैं, 7. जो

व्रतों को जानकर स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु बाद में उसका पालन नहीं कर सकते। व्रत की सफलता का रहस्य सम्यग्ज्ञान, सम्यग्रहण तथा सम्यग्पालन में निहित होता है—किसी एक की भी कमी से व्रताराधन का पूरा फल नहीं होता। उपरोक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार अविरत जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं, क्योंकि व्रतों का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। पिछले तीन प्रकार के अविरत सम्यक् दृष्टि हैं, क्योंकि वे व्रतों का यथाविधि ग्रहण या पालन न कर सकने पर भी उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। इस गुणस्थान में कोई औपशमिक सम्यक्त्ववाला होता है, तो कोई क्षायिक सम्यक्त्ववाला। व्रतों के ज्ञान के बावजूद आत्मा इसलिए पालन नहीं करती कि उसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है और उसके उदय में रहते चारित्र का ग्रहण और पालन अवरुद्ध रहता है।

(5) देशविरत गुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो आत्मा पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त न होकर एक देश से निवृत्त होती है, वह उसका देशविरति अथवा श्रावक व्रत होता है। कोई श्रावक एक व्रत को धारण करता है अथवा एकाधिक व्रत भी अंगीकार करता है, किन्तु उसका यह त्याग दो करण तीन योग (अनुमोदन का त्याग नहीं) से होता है। अनुमोदन या अनुमति तीन प्रकार की है—1. प्रतिसेवानुमति—अपने या दूसरे के लिए बने हुए भोजन आदि का उपभोग करना। 2. प्रतिश्रवणानुमति—पुत्र आदि किसी सम्बन्धी द्वारा किये गये पाप कर्म को सुनकर भी पुत्र आदि को उस पाप कर्म से नहीं रोकना तथा 3. संवासानुमति—जो श्रावक पापजनक आरंभों में किसी प्रकार से योग नहीं देता, केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों से श्रेष्ठ है।

(6) प्रमत्त संयत गुणस्थान—जो आत्मा पापजनक व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाती है, वही संयत (मुनि धर्म का पालन करती हुई) होती है। संयत होने पर भी जब तक प्रमाद का सेवन चलता है, तब तक वह प्रमत्त संयत कहलाती है और उसका यह छठा गुणस्थान होता है। संयत (मुनि) को सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है—वह संवासानुमति का भी सेवन नहीं करता। इस गुणस्थान से

लेकर आगे तक किसी भी गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता।

(7) अप्रमत्त संयत गुणस्थान—जो मुनि मद, विषय, कषाय, निद्रा व विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते, वे अप्रमत्त संयत होते हैं और उनका स्वरूप इस गुणस्थान का होता है। आत्मा में अशुद्धि का कारण प्रमाद होता है और प्रमाद छूटने से आत्मा की विशुद्धि बढ़ने लगती है। यही कारण है इस सातवें गुणस्थान से आत्मस्वरूप उत्तरोत्तर विशुद्ध होने लगता है तथा इस गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में अवस्थित मुनि—आत्माएँ प्रमाद का सेवन नहीं करतीं। वे मुनि जागृत होते हैं।

(8) निवृत्ति बादर गुणस्थान—जिस आत्मा के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ चारों निवृत हो गये हों उसके स्वरूप विशेष को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारंभ होती हैं—उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणीवाली आत्मा मोहनीय की प्रकृतियों को उपशम करती हुई ग्यारहवें गुणस्थान तक जाती है और क्षपक श्रेणीवाली आत्मा मोहनीय कर्म का क्षपण करती हुई दसवें से सीधी बारहवें गुणस्थान में जाकर अप्रतिपाती हो जाती है—नीचे नहीं गिरती। जो आत्माएँ इस आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर चुकी हैं, प्राप्त कर रही हैं और जो प्राप्त करेंगी, उन सबके अध्यवसाय—स्थानों की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जितनी आत्माएँ और जितने समय, उतने ही अध्यवसायों के प्रकार। अन्तिम समय तक पूर्व—पूर्व समय के अध्यवसायों से पर—पर समय के अध्यवसाय भिन्न—भिन्न समझने चाहिए तथा पूर्व—पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर—पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुणा विशुद्ध समझने चाहिए। आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है—1. स्थिति घात—जो कर्म दलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने—अपने उदय के नियत समयों से हटा देना, 2. रस घात—बंधे हुए ज्ञानादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना, 3. गुणश्रेणी—जिन कर्मदलिकों

का स्थितिघात किया जाता है, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना, 4. गुण संक्रमण—जिन शुभ कर्म प्रकृतियों का बंध अभी हो रहा है, उनमें पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण कर देना तथा 5. अपूर्व स्थिति बंध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बांधना। जैसे राज्य पाने की योग्यता मात्र से राजकुमार को राजा कहा जाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थान में रही हुई आत्मा चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशयक या क्षपक कहलाती है। चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ तो नौवें गुणस्थान में ही होता है, आठवें गुणस्थान में तो केवल उसकी योग्यता होती है।

(9) अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान—केवल संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय से जिस आत्मा की निवृत्ति नहीं हुई हो, वैसी आत्मा की उस अवस्था विशेष को अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान में माने जाते हैं, क्योंकि इसमें जितने जीव समसमयवर्ती रहते हैं, उन सबके अध्यवसाय एक समान शुद्धिवाले होते हैं। इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर-उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्तगुणा विशुद्ध समझना चाहिए। आठवें गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान की यही विशेषता है कि उस गुणस्थान में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, जबकि इनमें समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का समान बुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। कषाय संक्लेश की कमी के साथ-साथ परिणामों की शुद्धि बढ़ती जाती है। इस गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नता आठवें गुणस्थान की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती है। दसवें गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में स्थूल कषाय उदय में आता है तथा नौवें गुणस्थान के समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति नहीं होती। इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाली आत्माएँ दो प्रकार की होती

हैं—एक उपशमक और दूसरी क्षपक। चारित्र्य मोहनीय कर्म को उपशम करनेवाली उपशमक तथा उस का क्षय करनेवाली क्षपक।

(10) सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान—इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का ही उदय रहता है और आत्माएँ भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार की होती हैं। संज्वलन लोभ कषाय के सिवाय अन्य कषायों का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है, अतः इस गुणस्थान में आत्मा लोभ कषाय का उपशम या क्षय करती है और इसी दृष्टि से वे उपशमक या क्षपक कहलाती हैं।

(11) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान—जिनकी कषाय उपशान्त हो गयी हैं, जिनको राग अर्थात् माया और लोभ का भी बिल्कुल उदय नहीं है और जिनको छद्म (आवरण भूत घाती कर्म) लगे हुए हैं, वे आत्माएँ उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाती हैं और उनका गुणस्थान यह ग्यारहवाँ गुणस्थान होता है, जिसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गयी है। इस गुणस्थान में वर्तमान आत्मा आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि जो आत्मा क्षपक श्रेणी पूर्ण करती है, वही आगे के गुणस्थान में जा सकती है। इस गुणस्थानवाली आत्मा नियम से उपशम श्रेणीवाली ही होती है, अतः वह इस गुणस्थान से पतित हो जाती है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होने से पहिले ही जो आत्मा आयुष्य के क्षय होने से काल कर जाती है, वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होती है। उस समय वह ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है, क्योंकि अनुत्तर विमानवासी देवों में चौथा गुणस्थान ही होता है। वहाँ वह आत्मा उस गुणस्थान की उदय-उदीरणा आदि शुरू कर देती है। किन्तु जिस आत्मा के आयुष्य के शेष रहते इस गुणस्थान का समय पूरा हो जाता है, वह आरोह-क्रम से गिरती है। अर्थात् इस गुणस्थान तक चढ़ते समय उस आत्मा ने जिन-जिन गुणस्थानों को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्म प्रकृतियों का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढ़ी थी, वे सब प्रकृतियाँ उसी क्रम से उदय में आती हैं। इस प्रकार गिरनेवाली कोई आत्मा बीच के गुणस्थानों में रुक सकती है। तो कोई-कोई पहले गुणस्थान तक गिर जाती है। क्षपक श्रेणी के बिना कोई आत्मा

मोक्ष में नहीं पहुँच सकती और इस गुणस्थान में उपशम श्रेणीवाली आत्मा ही आती है, इस कारण वह अवश्य गिरती है। एक जन्म में दो बार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती और क्षपक श्रेणी तो एक बार ही होती है। जिस आत्मा ने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह उसी जन्म में क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है, किन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुकी है, वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। अन्य सिद्धान्त के अनुसार एक जन्म में एक ही श्रेणी की जा सकती है। इसलिए जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। उपशम श्रेणी के आरंभ का क्रम इस प्रकार है—चौथे, पाँचवे, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान आत्मा पहले अनंतानुबंधी कषायों का उपशम करती है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त में एक साथ दर्शन मोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियों का उपशम करती है। तदनन्तर वह छठे—सातवें में सैकड़ों बार आती—जाती है, फिर आठवें गुणस्थान में होकर नौवें गुणस्थान को प्राप्त करती है और नौवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम शुरू करती है। सबसे पहले वह नपुंसक वेद का उपशम करती है, फिर स्त्री वेद का। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन के क्रोध, मान और माया—इन सब प्रकृतियों का उपशम वह नौवें गुणस्थान के अन्त तक करती है। संज्वलन लोभ का उपशम वह दसवें गुणस्थान में करती है।

(12) क्षीणकषायछद्मस्थ वीतराग गुणस्थान—जो आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देती है, किन्तु शेष तीनों घाती कर्म अभी विद्यमान हैं, उसे क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतराग कहते हैं और उस आत्मा का गुणस्थान बारहवाँ होता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और इसमें क्षपक श्रेणीवाली आत्माएँ ही आ सकती हैं। क्षपक श्रेणी का कर्म इस प्रकार है—जो आत्मा क्षपक श्रेणीवाली होती है, वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करती है। उसके बाद वह अनन्तानुबंधी कषाय के शेष

अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डालकर दोनों का एक साथ क्षय करती है। आठवें गुणस्थान में वह अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय प्रारंभ करती है। इन आठ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से पहले ही नौवें गुणास्थान को प्रारंभ कर देती है और उसी समय इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर देती है— निद्रा—निद्रा, प्रचला—प्रचला, स्त्यानर्द्धि, नरक गति, नरकानुपूर्वी, तिर्यच गति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म तथा साधारण। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के अवशिष्ट भाग का क्षय करती है। फिर क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य आदि छः, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय करती है और संज्वलन लोभ का क्षय वह दसवें गुणस्थान में करती है।

(13) सयोगी केवली गुणस्थान—जिन आत्माओं ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है, वे सयोगी केवली कहलाती हैं और उनकी इस अवस्था विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। योग का अर्थ होता है— आत्मा की प्रवृत्ति या व्यापार जिसके तीन साधन हैं, इस कारण तदनुसार योग के भी तीन भेद हैं—मनोयोग, वचन योग तथा काया योग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान को मन का उपयोग करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली को शब्द द्वारा कोई प्रश्न न पूछकर मन से ही पूछता है, उस समय केवली भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला उस उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप में परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओं को देखकर ज्ञात कर लेता है। उपदेश देने के लिए केवली वचन का उपयोग करते हैं। हलन—चलन आदि की क्रियाओं में वे काय—योग का उपयोग करते हैं।

(14) अयोगी केवली गुणस्थान—जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। उनकी इस अवस्था एवं

स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। तीनों प्रकार के योगों का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगी अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिस केवली के आयुकर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते हैं तथा वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की स्थिति और प्रदेश आयुकर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते हैं, वे समुद्घात करते हैं, जिसके द्वारा वेदनीय, नाम और गौत्र की स्थिति आयु के समान कर ली जाती है। जिन केवली आत्माओं के वेदनीय आदि उक्त तीनों कर्मों की स्थिति तथा प्रदेशों में आयुकर्म की समानता होती है, उन्हें समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं है, इसलिए वे समुद्घात नहीं करतीं। सभी केवलज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं, जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है। योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है—पहले बादर (स्थूल) काय योग से बादर मनोयोग तथा बादर वचन योग को रोकते हैं। बाद में सूक्ष्म काय योग से बादर कामयोग को रोकते हैं और फिर उसी सूक्ष्म कामयोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचन योग को रोकते हैं। अन्त में सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान के बल से सूक्ष्म काय योग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी अयोगी बन जाते हैं और सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतर पोले भाग यानि मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद अयोगी केवली समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय का 'शैलेषीकरण' करते हैं। सुमेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध अवस्था की 'शैलेशी' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की गुणश्रेणी से और आयु कर्म की यथास्थिति श्रेणी से निर्जरा करना शैलेशीकरण है। इसको प्राप्त करके वे चार अघाती व भवोपग्राही या आत्मा को संसार में बांधकर रखनेवाले कर्मों का भी सर्वथा क्षय कर देते हैं। इस गुणस्थान में आत्म प्रदेश इतने घनीभूत हो जाते हैं कि

वे उनके शरीर के दो-तिहाई भाग में ही समा जाते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे उसी एक समय में ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्ध क्षेत्र में चले जाते हैं। वे अटल अवगाहना रूप से लोकाग्र में स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती है, क्योंकि आगे गति में सहायक धर्मास्तिकाय नहीं होती। कर्म-मल के पूर्णतः हट जाने पर शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व गति इस बिन्दु पर आकर अवस्थित हो जाती है।

समत्व योग की अवाप्ति

मेरा चिन्तन अतीव गूढ़ और गंभीर हो जाता है, जब मैं आत्म-स्वरूप के इन चौदह गुणस्थानों की सूक्ष्मताओं पर बहुत गहराई से विचार करता हूँ, क्योंकि यह मुझे ही निश्चित करना होता है कि मैं किस गुणस्थान में वर्तता रहता हूँ। गुणस्थानों में ऊपर चढ़ना या नीचे गिरना मेरी अपनी भाव-श्रेणियों की उच्चता या निम्नता पर अवलम्बित रहता है। अतः मैं ही अपनी भाव श्रेणी को परखूँ, उसकी अशुभता मिटाता रहूँ और ऊपर चढ़ता रहूँ—यह मेरा ही पुरुषार्थ होता है।

यह मैं जान गया हूँ कि मेरा ही सम्यग्ज्ञान और मेरी ही सम्यक् आस्था मुझे मेरे सम्यग्चारित्र में मेरी आत्मा को अवस्थित बनायेगी और इस अवस्था को ज्यों-ज्यों मैं ऊर्ध्वगामी बनाता रहूँगा, मेरा समत्व योग भी समुन्नत होता रहेगा। तो मैं समत्व योग की अवाप्ति कर लूँ—यह पूरी तरह से मेरे ही ऊपर निर्भर है। इसलिए मुझे अपने दायित्व को समझकर दृढ़ संकल्प करना होगा कि मैं अपनी विषय वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के मूल कारणों को समझूँ, उन्हें अपनी शुभता व संयमितता से दूर हटाऊँ एवं अपने आत्मोत्थान की बागडोर अपने हाथ में मजबूती से सम्हाल लूँ। विषमता जितने अंशों में मिटती जायेगी, उतने अंशों में मैं समता की अवाप्ति करता जाऊँगा।

मैं अपने ध्यान में लूँ कि मेरी सम्पूर्ण विषमता किस प्रकार के काले विचारों से रंगी हुई है? मैं इसके मूल में पाँच कारण देखता हूँ—ये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व सबसे घटाटोप अंधकार की अवस्था होती है, क्योंकि वहाँ आचरण और आस्था की बात तो दूर—सम्यक् ज्ञान के अस्तित्व की ही स्थिति नहीं

होती। अतः तब सर्वथा विषमता का ही साम्राज्य होता है। इस कारण मैं सबसे पहले इस घटाटोप अंधकार में सम्यक्त्व की प्रकाश किरणें खोजूँ और उस दिशा में आगे बढ़ते हुए मिथ्यात्व की अटवी को पार करूँ। मैं प्रतिक्षण जागृत भी रहूँ कि मेरे कदम कहीं भी पीछे नहीं हटें, क्योंकि बार-बार ऐसे अवसर आयेंगे, जब मेरा ही मन और मेरी ही इन्द्रियाँ सांसारिकता के मोह में उलझकर मुझे बलात् पीछे धकेलें। मुझे उनका निरोध करना होगा, जिसके लिए मेरी अपनी संकल्प शक्ति सुदृढ़ बननी चाहिए। उदंड सेवकों को जिस प्राभाविकता एवं कुशलता से अपने नियंत्रण में रखना होता है, अपनी आत्मा के इन सेवकों को वश में रखने के लिए उससे भी अधिक एकाग्र प्राभाविकता एवं सतत जागृत कुशलता की आवश्यकता होगी।

जब मैं विषमता के इस पहले कारण को कमजोर बना दूँगा, तो मेरे समक्ष प्रकाश फैलता जायेगा और उस प्रकाश में मेरा आत्म-विकास का भगीरथ कार्य भी सरल होता जायेगा, क्योंकि मैं अपनी आन्तरिकता का दृष्टा बन जाऊँगा और आन्तरिकता को विकृत बनानेवाले विषम तत्वों को स्पष्टतः देख पाऊँगा। अंधेरे में कोई भी शत्रु कहीं भी वार कर सकता है और उसका प्रतिकार कठिन हो जाता है, लेकिन सम्यक्त्व का प्रकाश मेरा सबसे बड़ा सहायक हो जायेगा और इसी प्रकाश में मैं अविरति के कारण को दूर करूँगा। मैं जान जाऊँगा कि कोरा ज्ञान पंगु होता है और बिना आस्था के वह अज्ञान ही होता है। अतः आचरण के धरातल पर मेरे चरण जब चलेंगे, तो मेरा आस्थामय ज्ञान अपनी सार्थकता ग्रहण करेगा। आचरण का पहला चरण होता है—व्रताराधन यानि त्याग का शुभ श्रीगणेश। अविरति की अवस्था टूटेगी और मैं व्रतों की उच्चतर श्रेणियों पर चढ़ता रहूँगा। देशविरति यानि आंशिक संयम से मैं सर्वविरति अर्थात् साधु जीवन में प्रवेश करूँगा और व्रतों की कठोर आराधना करूँगा।

व्रतों की कठोर आराधना से मेरा प्रमाद टूटेगा। यह प्रमाद अपनी जड़ें जमाता है, सांसारिक काम-भोगों की वासनाओं की भूमि पर, अतः मैं इस भूमि को ही खोदने लगूँगा। यह भूमि मेरी आत्मा के सिवाय अन्य भूमि नहीं है। मैं मेरे संकल्पों-विकल्पों में से विषयेच्छाओं का अन्त करता चलूँगा। मैं अपने मन और अपनी इन्द्रियों को

काम-भोगों के रास्ते से पूरी तरह हटा लूँगा, तो फिर प्रमाद किस बात का रहेगा ? मैं इस आप्तवचन को सदा स्मृति में रखूँगा कि एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) के लिए भी प्रमाद नहीं किया जाये, क्योंकि प्रमाद ही पाप के रास्ते पर ढकेलता है। प्रमाद के घटते रहने से मेरी आत्मजागृति निरन्तर बनी रह सकेगी। तभी मुझे अनुभूति होगी कि मुनि किस प्रकार सोते हुए भी जागृत रहते हैं ?

मैं मानता हूँ कि कषाय-समाप्ति का काम सबसे ज्यादा कठिन होता है और इसी विचार से कहा गया है कि कषाय से मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति होती है। मुझे इस तथ्य का भलीभाँति ज्ञान हो गया है कि यह कषाय आत्म-स्वरूप का पल्ला बड़ी मुश्किल से छोड़ती है। कषाय के चारों विकारी तत्वों का प्रहार बड़ा घातक होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ-साधु अवस्था में भी पीछे पड़े रहते हैं। बार-बार नियंत्रित करते रहने पर भी ये फिर-फिर भड़क उठते हैं और आत्म-स्वरूप पर कालिख का लेप कर देते हैं। सांसारिक क्षेत्रों में तो इनका रूप विकराल बना ही रहता है, लेकिन धार्मिक क्षेत्र में भी यदि इनके रूप को गहराई से समझकर इन पर अंकुश लगाया हुआ न रखा जाये, तो ये पलों में संयमी जीवन की अमूल्य उपलब्धियों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। कठिन तप का आराधक तपस्वी भी क्रोध के चक्कर में आ जाता है, तो संयम से प्रदीप्त साधु भी मान की मार खा जाता है। चाहे धार्मिक अनुष्ठानों पर ही आचरण किया जा रहा हो, माया से अपना वर्चस्व दिखाने की दुर्भावना जाग उठती है, तो लोभ आत्मोत्थान की कई सीढ़ियों तक प्रहार कर सकता है। इस दृष्टि से मैं अपने आपको पूर्ण सजग बनाता हूँ और इस प्रहारक कषाय को दूर करने में सन्नद्ध रहना चाहता हूँ।

यही सावधानी मैं अपने योगों के प्रति भी कायम करना चाहता हूँ। ये योग हैं, मेरे अपने मन के विचार, मेरे अपने वचन और मेरे अपने कार्य—ये तीनों मन, वचन और काया इन योगों के माध्यम हैं। जो कुछ भी मैं सोचता हूँ, तो वैसा ही बोलता हूँ और वैसे ही कार्य करता हूँ। मन, वाणी और कर्म में ही मेरे आत्म-स्वरूप की झलक देखी जा सकती है। ये योग ही अशुभ बने रहकर मुझे नीचे गिराते हैं, तो ये योग ही शुभता धारण करके मुझे ऊपर चढ़ाते हैं, योगों की अशुद्धता

और शुद्धता पल-पल आत्मा के पलड़ों को ऊँचा-नीचा करती रहती है, जिसके कारण इनके प्रति सावधानी परम आवश्यक है कि ये योग एक ही ऊर्ध्वगामी दिशा की ओर प्रवाहित हों। यह तभी संभव हो सकता है, जब मेरी आत्मा अपनी नियंत्रण शक्ति को स्वकेन्द्रित बना ले।

मुझे यदि साम्य योग की सम्पूर्णतः अवाप्ति करनी है, तो वीतराग देवों द्वारा उपदेशित संयम और तप के मार्ग पर अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना होगा तथा उनकी आज्ञा में रहकर विषमता के इन पाँचों कारणों को घटाना और मिटाना होगा। इस समग्र कारण-निवारण की एक ही रामबाण औषधि है कि मैं अपने मन को वश में करूँ-मन गतिशील अवश्य रहे और वह गतिशील रहेगा, लेकिन उसकी गति सांसारिक विषयों में न रहकर आत्म-विकास की ऊँचाइयों की ओर मुड़ जाये। मुझे अपने सारे पुरुषार्थ का प्रयोग यों समझिये कि इस एकाकी बिन्दु पर लगाना है। इस बिन्दु पर यदि मेरी एकाग्रता जम जाती है, तो मैं मान सकता हूँ कि मेरी सफलता की जड़ भी जम जाती है। कारण, मन का नियंत्रण ही वचन और काया के नियंत्रण में आसानी से ढल जाता है।

अब मेरी धारणा स्पष्ट हो जाती है कि मन को वश में करके मुझे क्या करना है? इसी संदर्भ में मैं जान जाता हूँ कि आत्म-विकास के कई सोपान साथ लेने पर भी जरा-सी असावधानी किस प्रकार आत्मा को नीचे गिरा देती हैं? मैं समझ पाता हूँ कि गुणस्थानों में उन्नति करना एक प्रकार से तलहटी से पर्वत के शिखर पर चढ़ना है और यों मानिये कि गुणस्थान रूपी सोपान (सीढ़ियाँ) लगे हुए हैं। तलहटी है कषायत्व की-निर्गुणी आत्मा की, कठिन विषमता के अंधकार की। पहले सोपान ऐसे आते हैं कि आत्मा का इन पर उतार-चढ़ाव बहुत होता रहता है, क्योंकि मन को वश में करने का अभ्यास आत्मा आरंभ ही करती है। उस आरंभिक अवस्था में कभी आत्मा मन को वश में करके ऊपर चढ़ती है, तो कभी मन उदंड बनकर उससे दूर छिटक जाता है और उसको नीचे गिरा देता है। अभ्यास की परिपक्वता के साथ ही इस अवस्था में सुधार होने लगता है, जबकि मन का खतरा कई सोपानों की चढ़ाई तक बराबर बना रहता है। अतः

मन को विशिष्ट आत्मिक प्राभाविकता के साथ विषमता निवारण के काम में लगाये रहना चाहिए।

मैं यह मानकर चलता हूँ कि मन जैसा कर्मठ माध्यम भी दूसरा नहीं होता। यदि वह किसी कार्य में पागल बनकर लग जाये, तो सफलता साधकर ही चैन लेता है। उसका अर्थ है कि मेरी आत्मा अपने साध्य के प्रति सर्वथा एकनिष्ठ बन जाये और उसी निष्ठा के साथ अपने मन को जोड़ ले, तो मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बना सकता हूँ।

योग शुद्धि और कषाय मुक्ति—यह अन्तिम लक्ष्य बन जाना चाहिए। यह शुद्धि और शुभता क्रमिक अभ्यास के साथ ही प्राप्त हो सकेगी। अशुभता से शुभता के इस क्रम को भी मुझे समझ लेना चाहिए। जैसे किसी के व्यवहार का यह रूप हो सकता है कि वह सबके साथ अपकार करता है—यहाँ तक कि अपना उपकार करनेवाले के साथ भी वह अपकार करने से नहीं चूकता। वह कुछ सुधरे, तो यह कर ले कि औरों के साथ अपकार करे, किन्तु अपना उपकार करनेवाले के साथ तो अपकार न करे। अगला संशोधन यह हो सकता है कि वह किसी का अपकार न करे, चाहे किसी का उपकार करे या नहीं करे। उसकी योग शुद्धि अधिक बढ़े, तो वह सबका उपकार करने का व्रत ले सकता है कि वह किसी का अपकार कतई नहीं करेगा। अन्ततोगत्वा वह उस स्तर तक पहुँच सकता है कि उसे अपना अपकार करनेवाले का भी उपकार ही करके हर्ष होगा। यह अशुभता से शुभता का क्रमिक विकास कहा जा सकता है, जो योग शुद्धि की तरतमता के अनुसार लम्बे अभ्यास से या अल्पावधि में ही साधा जा सकता है। कषाय मुक्ति का क्रम तो इससे भी कठिन होता है कि यह आत्म-विजय की समस्या होती है। यह भीतर का युद्ध बाहर के युद्ध से अत्यधिक जटिल एवं दुष्कर होता है।

मैं देखता हूँ कि एक प्रकार से इसी युद्ध का चित्र खींचते हैं, चौदह प्रकार के गुणस्थान कि किस प्रकार एक साधक आत्मयोद्धा बन अपने अन्दर के शत्रुओं से जूझता है, गिरता है, बढ़ता है और चढ़ता है। मिथ्यात्व को पछाड़कर एक बार साधक ऊपर चढ़ने लगता है, तो वह सम्यक्त्व का वरण करता है, व्रतों को ग्रहण करता है, श्रावक धर्म

अंगीकार कर लेता है और अप्रमत्त संयत अवस्था तक पहुँच जाता है, किन्तु तनिक—सी असावधानी, तनिक—सी कषाय वृद्धि और तनिक—सी मोहाविष्टता उसे वहाँ से गिराती है, तो उसे नीचे से नीचे लुढ़काती हुई मिथ्यात्व के घटाटोप अंधकार में पटक देती है। यदि वही अप्रमत्त संयती सतत जागृत रहता है और योग शुद्धि व कषाय मुक्ति के पथ पर अविचल गति से आगे बढ़ता रहता है, तो वह कषाय के तीनों प्रकारों अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ से निवृत्ति ले लेता है। उस समय सिर्फ संज्वलन कषाय से निवृत्ति लेनी शेष रहती है। साधना को उच्चता देते हुए वह अपनी कषाय को इतना सूक्ष्म कर लेता है कि मात्र संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खंड ही बचे रहते हैं। वहाँ से वह ऊपर के सोपान पर चढ़ जाता है, जहाँ कषाय उपशान्त हो जाती है और छद्मस्थ वीतरागता मिल जाती है। इस बिन्दु पर भी कषाय और योगों का ऐसा उद्वेग आ सकता है कि वह वहाँ से गिरे, तो नीचे की सीढ़ी पर और गिरता चला जाये, तो ठेठ नीचे तलहटी में पहुँच जाता है। किन्तु यही बिन्दु, ऐसा होता है कि जहाँ से ऊपर के सोपान की ओर दृढ़ता से पाँव बढ़ गये, तो वे क्षीण—कषाय वीतरागता व सयोगी केवली के उच्चस्थ स्थानों तक निश्चय रूप से पहुँचा देते हैं। यही नहीं, अयोगी केवली बनकर वैसे साधक का मुक्तिगामी हो जाना भी सुनिश्चित हो जाता है।

मेरा आशय यह है कि आत्म—विकास के क्रम में ज्यों—ज्यों ऊँचाई प्राप्त होती जाये, त्यों—त्यों सावधानी अधिकाधिक बढ़ती रहनी चाहिए। इस का यह भी अर्थ मान लिया जाये कि जहाँ संयम के प्रभाव से आते हुए कर्मों को रोकने में सफलता पायी जाये, वहाँ तपाराधन की उग्रता से संचित कर्मों की निर्जरा भी की जाती रहे। गुणस्थान—सिद्धान्त का यही संकेत है कि योग शुद्धि और कषाय मुक्ति का साधनाक्रम इतना परिपुष्ट तथा परिपक्व बनता जाये कि ये सांसारिक विकार किसी भी स्तर पर आत्म—स्वरूप पर आक्रमण करके सम्पादित उच्चता को व्यर्थ न कर सकें।

मैं इस साधना को ही विषमता के विरुद्ध युद्ध कहता हूँ। विषमता पहले मन में उपजती है, तभी वचन से बाहर निकलती है और

कार्य से विस्तार पाती है। एक व्यक्ति इस प्रकार विषमता उगलता है, जिसकी क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला बन जाती है और यही शृंखला सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विषमता का भयानक रूप ले लेती है। तब यह विषमता व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार में इस तरह घुलमिल जाती है कि मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही भुला बैठता है। तब वह अपने सामने रख लेता है— मात्र अपने ही स्वार्थों को और उनको येन-केन-प्रकारेण पूरे कर लेने के लिए वह पागल हो जाता है। यह पागलपन जितना फैलता है—पशुता फैलती है, राक्षसी वृत्ति फैलती है। उसे ही विषम समाज कहा जाता है।

जब सबके सामने इस फैलती हुई विषमता को दूर करने का सवाल आता है, तो मैं बुनियादी रूप से सोचता हूँ और उस स्रोत को देखना चाहता हूँ, जहाँ से विषमता का बीज फूटता है। वह स्रोत मुझे मनुष्य का मन दिखायी देता है—यों ही कह दूँ कि वह मेरा स्वयं का मन भी हो सकता है। इसलिए विषमता के विरुद्ध जो युद्ध करना है, वह मनुष्य को अपनी ही आन्तरिकता में करना है तथा अपने ही विमार्ग में भटकते हुए मन से करना है। मैं सोचता हूँ कि जब मेरे मन की विषमता घट या मिट जाती है, तो उतना ही मैं साम्योग का साधक बन जाता हूँ। विषमता को घटाने और मिटाने के लिए ममता (सांसारिकता के प्रति मोह-ग्रस्तता) को घटानी और मिटानी पड़ेगी तथा तब विषमता घटती और मिटती जायेगी, तो समता उसी रूपी में फूलती और फलती हुई चली जायेगी।

मेरा चिन्तन गहरे उतरता है कि मैं समतावादी से समताधारी बनता जाऊँगा, तो समतादर्शी बन जाने का साध्य मेरे समक्ष स्पष्ट हो जायेगा। समतादर्शी हो जाना ही साम्य-योग की अवाप्ति कर लेना है। समता की इस राह पर मेरा आगे बढ़ना क्या मेरे ही आत्म-विकास को प्रभावित करेगा? यह तो उपलब्धि होगी ही, किन्तु प्राभाविकता का क्षेत्र उससे भी कई गुणा बड़ा होगा। मेरा समभाव, मेरी समदृष्टि और मेरा साम्य योग मेरे सम्पर्क में आनेवालों में एक नये परिवर्तन का बीजारोपण करेंगे। जैसे एक मन से विषमता धीरे-धीरे या जल्दी दूर तक फैल जाती है, वैसे ही एक विशुद्ध मन से उपजी समता भी चाहे

धीरे-धीरे ही असर करे, लेकिन दूर-दूर तक असर जरूर करेगी। समता के इस विस्तार में सामाजिक प्रयोग भी किये जायें, तो समता का क्रियात्मक रूप अत्यधिक विस्तृत बनाया जा सकता है। सामाजिक प्रयोगों की सफलता के लिए मन शुद्धि तो आवश्यक होती ही है। इस प्रकार मनुष्य के मन को ही सम्पूर्ण विकास का मूल आधार मानने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है।

इसलिए मेरा निश्चित मत है कि चाहे सामाजिक विषमता हो अथवा राष्ट्रीय विषमता या भले ही वह सम्पूर्ण मानव समाज की विषमता हो—उसका मूलोच्छेदन तो एक मनुष्य के मानस परिवर्तन के साथ ही प्रारंभ किया जा सकेगा। कार्य कितना ही विशाल क्यों न हो—किन्तु उसकी सम्पूर्ति के लिए उसके किसी न किसी छोटे छोर से ही कार्यारंभ करना होगा। विश्व की विषमता मिटानी है, तब भी मनुष्य के मन की विषमता पर ही पहले प्रहार करना होगा। मनुष्य—मनुष्य के मन बदलते हुए एक समूह तक भी परिवर्तन का प्रसार हो जायेगा, तो उस सामूहिक शक्ति का प्रयोग भी साथ-साथ में प्रारंभ किया जा सकेगा। व्यष्टि और समष्टि का इस रूप में सहयोग समता के अधिकतम विस्तार का कारण भूत हो सकता है।

मैं चिन्तन करता हूँ कि मैं साम्य योग की अवाप्ति करूँ और उस अवाप्ति को विश्वकल्याण का माध्यम बनाऊँ। इस दृष्टि से मुझे अपने आत्म-समीक्षण में परिपक्वता लानी होगी और एकावधानता को सुदृढ़ बनाना होगी।

संसार के समस्त जीवों का परिवार

मेरा आत्म-समीक्षण ध्यान मुझे नयी अन्तःप्रेरणा देगा और वह यह कि सारी वसुधा ही मेरा कुटुम्ब है। दूसरे शब्दों में यह कि संसार के समस्त जीवों का परिवार ही मेरा पूरा और सच्चा परिवार है। जैसे मैं अपने छोटे घटक रूप परिवार का हितैषी और सहयोगी होता हूँ, वैसे ही मेरी हित भावना और सहयोगी शक्ति अपने इस बड़े परिवार के प्रति भी होनी चाहिए। यों पूछें, तो वह अधिक होनी चाहिए, क्योंकि मेरे छोटे घटक परिवार में तो वयस्क होकर सभी सदस्य आत्म-निर्भर

एवं स्वावलम्बी बन जाते हैं, किन्तु इस बड़े परिवार में तो पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और निगोद आदि के ऐसे सूक्ष्म जीव तथा जीवाणु होते हैं, जिनकी रक्षा के लिए मेरी आन्तरिक जागृति सदा प्रदीप्त रहनी चाहिए। ये सभी जीव छः काया के जीव होते हैं—चौरासी लाख योनियों के जीव, जिनमें से किसी के प्रति मेरी हिंसक वृत्ति उत्तेजित नहीं बननी चाहिए। मैं उनमें से एक भी जीव के एक भी प्राण को कष्टित नहीं करूँ—इतना ही मेरा कर्तव्य नहीं है, बल्कि मैं सभी जीवों के प्रति दयावान होऊँ तथा प्रत्येक जीव की रक्षा में अनुकम्पित होकर तत्पर बनूँ—यह भी आवश्यक है। ये सभी जीव मेरे बड़े परिवार के सदस्य हैं और मैं समझता हूँ कि मेरी करुणा की इन्हें अपेक्षा है।

यह मैं समझ चुका हूँ कि मैं संसार के समस्त जीवों के इस परिवार का सच्चा सदस्य तभी कहला सकता हूँ, जब मैं साधु धर्म को स्वीकार करके इन छः काया के जीवों का सच्चा रक्षक और हिताकांक्षी बनूँ। हृदय को इतना विशाल, उदार और विराट् बनाना सरल नहीं है। इसके लिए मैं जानता हूँ कि मुझे कठोर साधना करनी होगी—मेरे अपने स्वार्थों को समाप्त करके सर्वहित में अपने निजत्व को समर्पित कर देना होगा। ऐसी साधना रत्नत्रय की सर्वोच्च आराधना से ही सफल बनती है और तभी साम्ययोग की अवाप्ति होती है। साम्ययोगी बनाकर ही मैं समतादर्शी होता हूँ—सबको समदृष्टि से देखता हूँ और सबके हित के लिए अन्तःप्रेरित होता हूँ।

मुझे वीतराग देवों की वह उक्ति बराबर ध्यान में है, जिसमें कहा गया है कि समस्त मानव जाति एक है और मैं इस एकता के फलस्वरूप अपने कर्तव्यों की दृष्टि से समस्त मानव जाति से जुड़ा हुआ हूँ। यह प्रश्न किया गया है कि सर्व शास्त्रों का सार क्या है ? सम्पूर्ण आचरण का सार क्या है? और वहीं उत्तर भी दिया गया है कि सम्पूर्ण प्ररूपणा का सार है आचरण, जो संसार के समस्त जीवों की रक्षा तक विस्तृत बनना चाहिए और तब सम्पूर्ण आचरण का सार बताया गया है— निर्वाण। कहा गया है कि नारकियों की दिशा अधोदिशा है और देवताओं की दिशा ऊर्ध्वदिशा अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक होते हैं, तो ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व की झलक दिखाते हैं।

संयम की साधना का मुझे दीर्घ अनुभव है और मैं जानता हूँ कि जैसे-जैसे मन, वचन, काया के संघर्षशील योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे कर्मों का बंध भी अल्पतर होता जाता है। योग चक्र का पूर्णतः निरोध होने पर बंध का सर्वथा अभाव हो जाता है, जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है।

साधक का जीवन मैं जानता हूँ कि अन्तर्मुखी तथा ऊर्ध्वमुखी होता है। कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेटकर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप-वृत्तियों से सुरक्षित रखता है और अपनी सुख-सुविधा की भावना से अनपेक्षित रहकर उपशान्त एवं दंभरहित होकर विचरता है। साधक की चार श्रेणियाँ मानी गयी हैं। एक दर्पण के समान स्वच्छ हृदयवाला होता है, वहाँ दूसरा साधक हवा में उड़ती हुई पताका के समान अस्थिर हृदयवाला भी हो सकता है। तीसरी श्रेणी का साधक स्थाणु के समान मिथ्याग्रही और चौथी श्रेणी का साधक तीक्ष्ण कंटक के समान कटुभाषी होता है। पिछली तीनों श्रेणियाँ साधक की साधना की खोट बताती हैं। वस्तुतः आत्मदृष्टता साधक मधुकर (भंवर) के समान होते हैं—वे कहीं किसी एक वस्तु या व्यक्ति की आसक्ति में आबद्ध नहीं होते।

भीतर प्रकाश, बाहर प्रकाश

मैं जो ज्ञानपुंज और समत्व योगी बनने का अभिलाषी हूँ, मैं जानता हूँ कि सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, मौन रखने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता। वास्तव में समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य तथा कर्म से ही शूद्र होता है। जो भोगों में आसक्त है, वह कर्मों में लिप्त होता है और जो अभोगी है—भोगासक्त नहीं है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है और भोगों में अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है। इसलिए सर्वप्रथम ज्ञान साधना आवश्यक है, क्योंकि स्वाध्याय करते रहने से

समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है और हृदय के समस्त भाव प्रकाशयुक्त बनते हैं।

भीतर प्रकाश और बाहर प्रकाश तभी प्रसारित होता है, जब वस्तु-स्वरूप का यथार्थ रूप जाना जाता है और वह सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से संभव होता है। सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता। ज्ञान से भावों का सम्यक् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों का निरोध होता है तथा तप से आत्म-स्वरूप निर्मल बन जाता है। यह निर्मलता ही भीतर और बाहर- सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश प्रसारित कर देती है।

मैं भावना भाता हूँ कि मैं भी मुनिजनों के हृदय के समान अपने हृदय को बनाऊँ, जो शरदकालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। मैं भी मुनियों के आत्म स्वातंत्र्य को प्राप्त करूँ, जो पक्षियों की तरह बन्धनों से विमुक्त होता है तथा मैं भी मुनियों के समभाव के समान अपनी आन्तरिकता में समभाव का सृजन करूँ, जो पृथ्वी की तरह समस्त सुखों व दुःखों को सहन करता है। मैं मुनि धर्म में उत्कृष्टता प्राप्त करता हूँ, तभी मुक्ति-पथ पर अग्रगामी बनता हूँ और निर्मल प्रकाश की दिव्याभा को पहिचान सकता हूँ व प्राप्त कर सकता हूँ।

अमित शान्ति और अक्षयसुख

मैं और मेरी तरह प्रत्येक प्राणी सदा ही शान्ति और सुख की अभिलाषा रखता है, किन्तु समस्या वहाँ यही बनी रहती है कि अपने मन, वचन तथा काया के योग उसके अनुसार नहीं बनाये जाते हैं। बबूल बोते रहकर आम का फल पाने की अभिलाषा रखते हैं, जिसके कारण अभिलाषा की पूर्ति नहीं होती है। यह मूल में ही भूल होती रहती है। अतः चाहने पर भी शान्ति नहीं मिलती, सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिए सबसे पहले इस अज्ञान को दूर करके यह सम्यक् प्रतीति लेनी होगी कि क्या करने से और क्या नहीं करने से शान्ति मिलेगी और सुख प्राप्त होगा? यह सम्यक् प्रतीति की आस्था तथा आचरण के चरणों को सुदृढ़ व स्थिर बनाकर अमित शान्ति और अक्षय सुख का मार्ग दिखायेगी।

मुझे अमित शान्ति और अक्षय सुख मिले या यों कहूँ कि पहले सच्ची शान्ति और सच्चे सुख का तनिक भी रसास्वादन कर सकूँ, उसके लिए अशान्ति और दुःख के कारणों की खोज करनी होगी, क्योंकि एक बार भी यदि सच्ची शान्ति और सच्चे सुख के रसानन्द का मैं अनुभव कर लूँगा, तो फिर उस मार्ग पर चलने का मेरा उत्साह जाग उठेगा। यह खोज अपने भीतर ही करनी होगी, क्योंकि शान्ति भी वहीं से प्रवाहित होती है तथा अशान्ति भी वहीं से फूटती है और सुख-दुःख का अनुभव भी वहीं जन्म लेता है। यह तथ्य मुझे हृदयंगम कर लेना चाहिए और इसकी गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि बाहर के पदार्थ और व्यक्ति अशान्ति और दुःख पैदा करने में निमित्त-मात्र होते हैं—वे स्वयं मेरे हृदय में अशान्ति और दुःख पैदा नहीं कर सकते हैं। सांसारिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के सम्बन्ध में अनन्त इच्छाएँ और कामनाएँ जब तक भड़की हुई रहती हैं, उस हृदय में शान्ति और सुख की क्षीण प्रकाश रेखा भी नहीं चमकती। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव (विभाव) देखा जाता है कि बाह्य पदार्थों की वृष्टि से उसे जो कुछ प्राप्त होता है, उससे वह सन्तुष्ट नहीं रहता तथा अपनी नजरें ऊपर रखता हुआ वह अप्राप्त की चिन्ता करता जाता है। यह दीन-हीन मनुष्यों पर ही लागू नहीं होता, बल्कि अच्छे सम्पन्न लोगों में भी यह वृत्ति बहुलता से देखी जाती है। इसी वृत्ति को तृष्णा कहते हैं। तृष्णाग्रस्त होकर मनुष्य अपने प्राप्त सुख को भी सुख मानकर नहीं भोगता है और अधिकतम प्राप्त करने के भारी तनावों के बीच दुःखभरी जिन्दगी जीता है। तब उसके मन-मानस में अशान्ति ही उमड़ती-घुमड़ती है और अप्राप्त की चिन्ताग्रस्तता के कारण दुःख का अनुभाव बढ़कर गंभीर होता रहता है। इसके विपरीत यदि अपनी आन्तरिकता को सन्तोष के शीतल जल से शान्त बना लें और अपनी नजर नीचे की तरफ घुमाते रहें, तो जो कुछ प्राप्त है, उसके सुख को भी भोगा जा सकेगा तथा हृदय को भी शान्त बनाया जा सकेगा।

मैं मानता हूँ कि शान्ति और सुख के अनुभव का विषय मुख्यतः अपनी ही अवधारणाओं पर अवलम्बित रहता है। इसके लिए इच्छाओं और कामनाओं का निरोध ही करणीय पुरुषार्थ होता है। तृष्णा पर अंकुश लगाते ही कई तनाव एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

इच्छा निरोध का धीरे-धीरे ही सही, किन्तु क्रमिक विकास में जानता हूँ कि हृदय को सन्तुलित बना देगा और तब शान्ति एवं सुख का लाभ लेना अपने ही वश की बात हो जायेगी। बाहर के मनोज्ञ पदार्थ मिलें या चले जायें और अमनोज्ञ पदार्थों का योग हो जाये, तब भी परतत्त्व मेरे निजत्व को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर पायेंगे और न ही मेरे हृदय में अशान्ति की ज्वाला सुलगा सकेंगे या दुःख की पीड़ा पैदा कर सकेंगे। यही संयम की साधना का प्रारंभ होगा।

ज्यों-ज्यों मेरा संयम सुदृढ़ एवं सुस्थिर बनता जायेगा, त्यों-त्यों मेरी शान्ति भी अधिकाधिक शीतल और सुख भी अधिकाधिक आह्लादकारी बनता जायेगा। यही नहीं, उत्तरोत्तर आत्म-विकास के साथ मेरी शान्ति और मेरे सुख में स्थायित्व भी आता जायेगा। क्षण-क्षण शान्ति और अशान्ति के पलड़ों में मेरा झूलना भी बंद हो जायेगा।

संयम और तप की आराधना के साथ बंध से ज्यों-ज्यों मुक्ति मिलती जायेगी और ज्यों-ज्यों मेरी आत्मा ऊपर से ऊपर के गुणस्थान के सोपानों पर आरूढ़ होती जायेगी, त्यों-त्यों मुझे अमित शान्ति और अक्षय सुख की परम उपलब्धि भी हो जायेगी। तब शान्ति और सुख का रूप अव्याबाध हो जायेगा।

आठवाँ सूत्र और मेरा संकल्प

वीतराग देवों द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूँगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एवं विश्व कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है, क्योंकि ज्ञान के ही प्रकाश में मैं अपने साध्य को समझकर तदनुकूल साधनों का अभिग्रहण कर सकूँगा। मैं जब अपना साध्य अमित शान्ति तथा अक्षय सुख के रूप में मोक्ष प्राप्ति को बना लूँगा, तो यह भी निश्चय कर लूँगा कि मैं वीतराग देवों की आज्ञा में रहता हुआ एकावधानता से रत्नत्रय की सफल आराधना करूँ।

मैं मूल में ज्ञानपुंज हूँ, समत्व योगी हूँ, तो मुझे अपने मूल स्वरूप को अनावृत करना ही है कि मैं व्यक्त रूप से ज्ञानपुंज एवं समत्व योगी बन जाऊँ। इस दृष्टि से मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र

की आराधना करूँगा तथा योग शुद्धि व कषाय मुक्ति की ऊर्ध्वगामी गति के माध्यम से आत्मिक गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ़ होता हुआ क्रमिक रूप में आत्मोन्नति करता जाऊँगा। मैंने जान लिया है कि समत्व योग की सर्वोच्च साधना से ही मैं अमिट शान्ति एवं अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकूँगा। अतः दृढ़ संकल्पपूर्वक मैं मोक्ष के पथ पर आगे बढ़ता जाऊँगा।



अध्याय दस
आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 9 :

मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है
और उसे मैं कैसे प्राप्त करूँ?

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित
होगा कि मैं दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष या नपुंसक कहाँ
हूँ और शब्द, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के आकारवाला
भी कहाँ हूँ? मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर,
अमर, अवेदी, अखेदी, अलेशी आदि गुणों से सम्पन्न
हूँ। मैं गुणाधारित जीवन का निर्माण करूँगा,
मनोरथ-नियम के चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी
बनूँगा और अपने मूल आत्मस्वरूप को समाहित
करने की दिशा में अग्रसर होऊँगा।

सूत्र नवम

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरंजन हूँ। मैं आत्मस्वरूप हूँ—ज्ञान सम्पन्न हूँ। इसी कारण मैं जानता हूँ कि वास्तव में मैं क्या हूँ और आज मैं किस स्वरूप में चल रहा हूँ? मैं यह भी जानता हूँ कि मैं जिस संसार में अभी चल रहा हूँ, उसका सही स्वरूप क्या है तथा संसार के स्वरूप ने मेरे आत्म—स्वरूप को किस रूप में प्रभावित कर रखा है?

मैं यह सब जानता हूँ, इसीलिए मानता हूँ और कहता हूँ कि मैं शुद्ध हूँ—सर्व प्रकारेण शुद्ध। मेरी मूल शुद्धता या निर्मलता में किसी भी प्रकार के मल का कोई अंश नहीं है। मैं पूर्णतया निर्मल और शुद्ध हूँ।

मैं शुद्ध हूँ, इसीलिए बुद्ध हूँ—प्रबुद्ध हूँ। मेरे बोध की कोई सीमा नहीं है—मेरा बोध असीम है—सम्पूर्ण लोक को जानता है, लोक की प्रत्येक आत्मा और वहाँ रहे हुए प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्येक को द्रव्य रूप में भी जानता है और उसकी विविध पर्यायों को भी पहचानता है।

मैं बुद्ध हूँ और तदनुसार सिद्ध हूँ—कोई सिद्धि ऐसी नहीं, जो मुझसे अछूती रह सके। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य और अनन्त वीर्य का धारक हूँ। मेरी बुद्धता अपार है, तो मेरी सिद्धि मेरे परम स्वरूप की द्योतक है। सिद्ध होकर मैं आनन्द में निमग्न हो जाता हूँ।

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हूँ, अतः तदनुसार निरंजन हूँ। मेरी शुद्धता, बुद्धता और सिद्धि मुझे शरीर के बंधन से मुक्त बनाकर निरंजन—निराकार बना देती है और वस्तुतः मेरी आत्मा का वही परम और चरम स्वरूप है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज मैं शुद्ध नहीं हूँ, बुद्ध नहीं हूँ, सिद्ध नहीं हूँ और निरंजन भी नहीं हूँ, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन—स्वरूपी बन जाने का अमित सामर्थ्य मेरी ही आत्मा में समाया हुआ है। मैं अपने अपूर्व पुरुषार्थ से शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन बन सकता हूँ। यह मेरी प्रयास—साध्य अवस्था है—मेरा साध्य है।

मैं जानता हूँ कि मैं आत्म—स्वरूपी हूँ। मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं। शरीर तो मात्र मेरा वस्त्र है, जिसे मैं अपने कर्मानुसार बदलता रहता हूँ। मैं स्वयं शरीर नहीं हूँ। किन्तु इस संसार में विडम्बना पूर्ण स्थिति यही है कि अधिकांश प्राणी अपने को शरीर स्वरूप ही मानकर चलते हैं, अपने आत्म—स्वरूप की अनुभूति नहीं लेते। वे 'मैं' और 'मेरे शरीर' के भेद को आँकते ही नहीं। ऐसी अनुभूति और अंकन के अभाव में वे न तो सत्य साध्य का निर्धारण कर पाते हैं और न ही सत्य साधनों का चयन। वे संसार और वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर मोहग्रस्तता के भयानक दुःखों को भोगते हैं। किन्तु मैं अपने मूल स्वरूप को जानता और पहचानता हूँ और इसीलिए मैं यथार्थ स्वरूप का पूर्णतः प्रतिपादन करना चाहता हूँ।

मैं आत्मा हूँ और मेरा मूल स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरंजन है। मैं अपने वर्तमान अशुद्ध, अबुद्ध, असिद्ध और शरीरी स्वरूप को आत्मा के मूल स्वरूप में कैसे परिवर्तित करूँ—उस पुरुषार्थ को भी जानता हूँ और इसी सामर्थ्य एवं पुरुषार्थ को सभी भव्य आत्माओं के समक्ष प्रकट करना चाहता हूँ। इस पुरुषार्थ के तीन चरण हो सकते हैं—1. अपने आत्म—स्वरूप पर प्रतीति हो, उसकी अनुभूति ली जाये तथा उसके ज्ञाता, दृष्टा, कर्ता, एवं भोक्ता शक्तियों को समझा जाये। 2. सांसारिकता में रमती हुई अपनी वर्तमान आत्मिक अवस्था के कारण जाने जायें, उन्हें दूर करने के उपाय खोजे जायें और उन उपायों की क्रियान्विति पर अपना कठोर पुरुषार्थ नियोजित किया जाये। 3. सम्यक्त्व को आत्मसात किया जाये, सर्वविरति त्याग के अन्तर्गत संयम एवं तप की उच्चस्थ साधना की जाये और वीतरागी बनकर शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध एवं निरंजन अवस्था में अपनी आत्मा को सदा काल के लिए अवस्थित बना ली जाये।

अतः आवश्यक है कि मैं अपने भीतर झाँकूँ, भीतर उतरूँ और भीतर की गहराई की थाह लूँ—मुझे अपना विराट आत्म-स्वरूप वहीं पर दिखलायी देगा और वहीं की गूढता से मैं अपने मूल गुणों की पहचान कर सकूँगा। मैं क्या हूँ और मुझे क्या होना चाहिए एवं मैं क्या कर रहा हूँ तथा मुझे क्या करना चाहिए—इस सबका वास्तविक बोध भी मुझे वहीं से हो सकेगा।

मैं आत्म-स्वरूपी हूँ

इसलिए मेरा पहला चरण है कि मैं आत्म-स्वरूपी हूँ। आत्मा है, वह मैं हूँ और मैं वह नहीं हूँ, जो मेरा शरीर है। आत्मा और शरीर के पृथक्त्व को समझकर ही मैं अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानता हूँ। शरीर अलग है और आत्मा अलग है और इस कारण जब एक जीवन समाप्त होता है, तो उस जीवन में प्राप्त शरीर समाप्त होता है, आत्मा समाप्त नहीं होती। आत्मा तो अजर-अमर होती है—इस संसार में भी और सिद्ध-स्थली में अवस्थित हो जाने के बाद में भी। सिद्धावस्था में वह कर्ममुक्त होकर शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन बन जाती है, तब वह शाश्वत रूप से एक-स्वरूपी बन जाती है।

तो मैं आत्मा हूँ, इसीलिए अनश्वर हूँ—अजर-अमर हूँ। मेरी कभी मृत्यु नहीं होती और जब मेरी मृत्यु नहीं होती, तो शरीर की मृत्यु का अवांछित भय मैं क्यों रखूँ? इसी कारण मैं अभय भी हूँ। मैं आत्मा हूँ, इसीलिए निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायों को प्राप्त होता हूँ और मेरा लक्षण उपयोग या चैतन्य रूप है। मेरा ही नहीं, संसार के समस्त जीवों का भी यही उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण है। इस दृष्टि से मेरी आत्मा और सभी जीवों की आत्माएँ एक हैं।

मैं आत्मावादी भी हूँ, क्योंकि मैं नरक, तिर्यच, मनुष्य, देवगति आदि भाव दिशाओं तथा पूर्व, पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओं में आने-जानेवाले अक्षणिक, अमूर्त आदि स्वरूपवाली आत्माओं को मानता हूँ और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता हूँ। मैं आत्मा के इस स्वरूप को नहीं मानता कि वह सर्वव्यापी, एकान्त, नित्य या एकान्त क्षणिक है, क्योंकि वैसा मानने पर आत्मा का पुनर्जन्म संभव नहीं होता।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो शंकाशील होते हैं अथवा उसके अस्तित्व को नहीं मानते, उनका पक्ष है कि आत्मा नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। जैसे कि कोई कहे—आकाश में फूल है। जो वस्तु विद्यमान होती है, वही प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है, जैसे घड़ा। आत्मा चूंकि प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती, इसीलिए वह नहीं है। परमाणु विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष से नहीं जाने जा सकते—यह तर्क आत्मा के लिए उचित नहीं है, क्योंकि घड़े आदि के कार्यरूप में परिणत होने पर परमाणु प्रत्यक्ष से जाने जा सकते हैं। आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का अविनाभाव (एक दूसरे के बिना नहीं रहना) निश्चित हो जाने के बाद किसी दूसरी जगह एक को देखकर दूसरी वस्तु का ज्ञान अनुमान से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष न होने के कारण उसका अविनाभाव किसी वस्तु के साथ निश्चित नहीं किया जा सकता। अतः आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती। तीसरे, आत्मा की सिद्धि आगम से भी नहीं होती, क्योंकि उसी महापुरुष के वाक्य को आगम रूप से प्रमाण माना जा सकता है, जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देखा है। आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, इसलिए उसके अस्तित्व को बतानेवाला आगम भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसके अलावा अलग-अलग मतों के आगम भिन्न-भिन्न प्ररूपणा करते हैं। कुछ आत्मा के अस्तित्व को बताते हैं और कुछ अभाव को। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक आगम ही प्रमाण है। उपमान या अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इन दोनों की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ में ही हो सकती है।

वीतराग देवों की अमोघ वाणी के प्रकाश में मैं जब इन तर्कों की विवेचना करता हूँ, तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सारे तर्क सारहीन हैं और इस कारण कुतर्क हैं। मैं समझता हूँ कि आत्मा मुझे प्रत्यक्ष है, क्योंकि यदि मैं आत्मा के अस्तित्व में संशय भी करता हूँ, तो वह संशय स्वयं ज्ञान होने के कारण आत्मा का ही विषय है, क्योंकि उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है। इसी प्रकार अपने शरीर में होनेवाले सुख-दुःख आदि का ज्ञान स्वयंवेदी (अपने आपको जाननेवाला) होने के कारण

आत्मा को ही प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। मैंने किया, मैं करता हूँ, मैं करूँगा या मैंने कहा, मैं कहता हूँ, मैं कहूँगा अथवा मैंने जाना, मैं जानता हूँ, मैं जानूँगा इत्यादि तीनों कालों को विषय करनेवाले ज्ञानों में भी 'मैं' शब्द से आत्मा का ही बोध होता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से भी आत्मा की सिद्धि होती है। यदि 'मैं' शब्द से शरीर को लिया जाये, तो मृत शरीर में भी यही प्रतीति होनी चाहिए, जो नहीं होती। आत्मा का निश्चयात्मक ज्ञान हुए बिना 'मैं हूँ' यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें भी 'मैं' शब्द का अर्थ आत्मा ही है।

मैं स्पष्ट समझ रहा हूँ कि आत्मा के नहीं होने पर 'आत्मा है या नहीं' इस प्रकार का संशय भी पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि संशय ज्ञान रूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता। ज्ञान को शरीर का गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है तथा शरीर मूर्त और जड़ है। दो विरोधी पदार्थ गुण और गुणी नहीं बन सकते। जैसे बिना रूपवाले आकाश का गुण रूप नहीं हो सकता और इसी प्रकार मूर्त और जड़ शरीर का गुण अमूर्त और बोध रूप ज्ञान नहीं हो सकता। सभी वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय आत्मा का निश्चय होने पर ही हो सकता है। जिसे आत्मा के अस्तित्व में ही सन्देह हो, वह कर्म बंध, मोक्ष तथा घट, पट आदि के विषय में भी संशय रहित नहीं हो सकता।

मैं जान रहा हूँ कि आत्मा का अभाव सिद्ध करनेवाले अनुमान में भी बहुत से दोष हैं। प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाली आत्मा का अभाव सिद्ध करने से साध्य प्रत्यक्ष बाधित है, तो वह अनुमान विरुद्ध भी है। संशयवाला है। इसमें 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा का अस्तित्व मानते हुए भी उसका निषेध करना अभ्युपगम विरोध है। लोक में जिस वस्तु का निश्चय छोटे से लेकर बड़े सभी व्यक्तियों को हो, उस का निषेध करने से यह कथन लोक बाधित भी है। अपने ही लिए 'मैं हूँ या नहीं' इस प्रकार संशय करना अपनी माता को वंध्या बताने के समान स्व-वचन बाधित भी है। अतः आत्मा के अस्तित्व को न माननेवाले पक्ष में अपक्षधर्मता के कारण हेतु भी प्रसिद्ध है और प्रमाण सिद्ध आत्मा में ही हेतु की प्रवृत्ति होने के कारण हेतु विरुद्ध भी है।

अतः मैं सूर्य के प्रकाश के समान निश्चित रूप से अनुभव करता हूँ कि आत्मा प्रत्यक्ष है, क्योंकि आत्मा के गुण स्मृति, जिज्ञासा (जानने की इच्छा), चिकीर्षा (करने की इच्छा) और जिगमिषा, संशय आदि प्रत्यक्ष हैं। जिस वस्तु के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वह वस्तु भी प्रत्यक्ष होती है, जैसे घट के गुण, रूप आदि प्रत्यक्ष होने पर घट भी प्रत्यक्ष होता है। यदि गुणों के ग्रहण से गुणी का ग्रहण न माना जाये, तो भी गुणों के ज्ञान से गुणवाले (गुणी) का अस्तित्व तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से भी आत्मा का अस्तित्व अखंडनीय है और मेरी मान्यता सुदृढ़ हो जाती है कि मैं आत्म-स्वरूपी हूँ—मैं आत्मा हूँ।

मैं आत्मा हूँ, तो कैसी आत्मा हूँ? इस चिन्तन में मैं अनुभव करता हूँ कि मैं अभी बहिरात्मा हूँ, क्योंकि जब तक आत्मा को सम्यक् ज्ञान नहीं होता और वह मोहवश शरीर आदि बाह्य पदार्थों में आसक्त रहती है कि 'यह मैं ही हूँ—मैं इनसे भिन्न नहीं हूँ' तब तक वह शरीर आदि को अपने साथ जोड़े रखने के अज्ञान के कारण बहिरात्मा होती है। मैं अन्तरात्मा भी हूँ, क्योंकि जब मैं बाह्य भावों को दूर हटाकर शरीर से पृथक् शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करता हूँ, तो मैं आत्म-ज्ञानी पुरुष के रूप में अन्तरात्मा हो जाता हूँ। मैं अपने मूल आत्म-स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा हूँ। जब मेरी आत्मा अपने सकल कर्मों का नाश करके अपना शुद्ध ज्ञान स्वरूप प्राप्त कर लेगी और वीतराग तथा कृतकृत्य हो जायेगी, तब वह शुद्धात्मा-परमात्मा बन जायेगी।

मेरी आत्मा के तीन रूप इस प्रकार के भी होते हैं—बुद्ध और सिद्ध। जब तक मेरी आत्मा कर्म-समूह से बंधी हुई रहती है, तब तक वह बद्ध आत्मा है, जब वह घाती कर्म बन्धनों का क्षय करके वीतरागी हो जायेगी, तो वह बुद्ध आत्मा बन जायेगी और जब वह सम्पूर्ण कर्म क्षय करके अन्तिम बन्धन रूप शरीर से मुक्त हो जायेगी, तब वह सिद्ध आत्मा हो जायेगी।

मेरी आत्मा के ये विभिन्न रूप उसकी पर्यायें हैं, जबकि वह शुद्ध रूप में एक द्रव्य है। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, जो पर्यायों

के रूप में बदलता रहता है और गुण उसे कहते हैं, जो द्रव्य के आश्रित रहे। गुण सदैव द्रव्य के अन्दर ही रहता है, उसका स्वतंत्र कोई स्थान नहीं रहता। द्रव्य और उसके गुणों में रहनेवाली अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। कुल छः प्रकार के द्रव्यों में पाँच द्रव्य जड़ हैं और छठा द्रव्य आत्मा है। आत्मा का गुण चैतन्य है और उसमें परिवर्तित होनेवाली अवस्थाएँ उसकी पर्याय कहलाती हैं। पर्यायें गुण और द्रव्य दोनों में रहती हैं।

मेरी आत्मा अरूपी द्रव्य है, जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं पाये जाते तथा जो अमूर्त है। पुद्गल के अलावा सभी पाँचों द्रव्य अरूपी होते हैं। मेरी आत्मा भी अरूपी है और उसका गुण या लक्षण चैतन्य है। यों उसमें चार गुण हैं— अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। मेरी आत्मा की पर्यायें भी चार हैं—अव्याबाध अनवगाह, अमूर्तिकता तथा अगुरुलघुत्व अनन्त ज्ञान आदि चारों गुण केवल आत्म-द्रव्य में ही पाये जाते हैं, अन्य किसी द्रव्य में नहीं। किन्तु प्रत्येक द्रव्य के समान मेरी आत्मा में भी आठ पक्ष हैं—नित्य, अनित्य, एक, अनेक, सत्, असत्, वक्तव्य और अवक्तव्य। मेरी आत्मा के चारों गुण और तीन पर्यायें नित्य हैं, मात्र अगुरुलघुत्व पर्याय अनित्य है। यों आत्माएँ अनन्त हैं, एक आत्मा में असंख्यात प्रदेश हैं तथा अनन्त गुण और पर्यायें हैं। इस अनेकता के उपरान्त भी सर्व आत्माओं में जीवत्व तथा चेतना लक्षण एक समान होने से सबमें एकत्व भी है। मेरी आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् भी है, तो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् भी है। मेरी आत्मा में अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें वचन से कही जाने की अपेक्षा से वक्तव्य भी हैं, तो वचन से नहीं कही जाने की अपेक्षा से अवक्तव्य भी हैं। केवली भगवान सर्व द्रव्य और पर्यायों को देखते हैं, परन्तु वचन से उनका अनन्तवाँ भाग ही कह सकते हैं। इस प्रकार वक्तव्य और अवक्तव्य विषय का स्वरूप दिखलाया गया है। नित्य—अनित्य पक्ष की चौभंगी के अनुसार मेरी आत्मा में ज्ञान आदि गुण अनादि—अनन्त हैं यानि वह नित्य है। मोक्ष जानेवाली भव्य आत्मा के कर्म का संयोग अनादि—सान्त हैं, क्योंकि कर्म अनादि से लगे हुए हैं, परन्तु भव्य आत्मा के मोक्ष में चले

जाने पर उन कर्मों का सम्बन्ध पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। आत्मा जन्मान्तर करती हुई देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और तिर्यचत्व प्राप्त करती है, तो देवत्व आदि उसकी पर्यायें सादि-सान्त हैं, क्योंकि देव आदि में जन्म में उत्पत्ति भी होती है, तो उसका अन्त भी होता है। भव्य आत्मा कर्मक्षय करके जब मोक्ष में चली जाती है, तो उसका मुक्तत्व रूप पर्याय उत्पन्न होने से सादि और उसका कभी अन्त नहीं होने से अनन्त अर्थात् सादि-अनन्त है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की चौभंगी के अनुसार मेरी आत्मा में स्व-द्रव्य की अपेक्षा से ज्ञान आदि अनन्त गुण अनादि अनन्त हैं। आत्मा जितने आकाश प्रदेशों में रहती है, वही उसका क्षेत्र है, जो सादि-सान्त है। आत्मा का काल अगुरुलघु पर्याय से अनादि-अनन्त है, परन्तु अगुरुलघु की उत्पत्ति और नाश सादि-सान्त है। आत्मा का स्वभाव-गुण-पर्याय अनादि-अनन्त है।

गुणों की दृष्टि से मेरी आत्मा में छः सामान्य गुण हैं—
 (1) अस्तित्व —द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना अस्तित्व गुण है। इसी गुण के होने से आत्मा में सद्रूपता का व्यवहार होता है।
 (2) वस्तुत्व —द्रव्य का सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप वस्तुत्व गुण है। जैसे सुवर्ण घट में घटत्व सामान्य गुण और सुवर्णत्व विशेष गुण है। अवग्रह ज्ञान में सब पदार्थों के सामान्य रूप का आभास होता है और अवाय में विशेष का भी आभास हो जाता है। (3) द्रव्यत्व-गुण और पर्यायों का होना द्रव्यत्व गुण है। (4) प्रमेयत्व-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होना प्रमेयत्व गुण है। (5) अगुरुलघुत्व-द्रव्य का गुरु अर्थात् भारी या लघु अर्थात् हल्का न होना अगुरुलघुत्व गुण है। यह गुण सूक्ष्म है। अतः अनुभव का विषय है। (6) प्रदेशत्व-वस्तु के निरंश अंश को प्रदेश कहते हैं। द्रव्यों का प्रदेश सहित होना प्रदेशत्व गुण है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ये सामान्य गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं।

द्रव्य रूप से मेरी आत्मा के समान अनन्त आत्माएँ हैं—उनके भेद इस प्रकार हैं—संज्ञी मनुष्य संख्यात और उससे असंज्ञी मनुष्य असंख्यात गुण है। उससे नरक के जीव असंख्यात गुणे हैं। इसी प्रकार देवता असंख्यात गुण, तिर्यच पचेंन्द्रिय असंख्यात गुण, चतुरिन्द्रिय

जीव असंख्यात गुण, तिइन्द्रिय जीव विशेषाधिक, बेइन्द्रिय जीव विशेषाधिक, प्रत्येक शरीर बादर वनस्पति काय असंख्यात गुण, तेइन्द्रिय काय असंख्यात गुण, पृथ्वीकाय विशेषाधिक, अपकाय विशेषाधिक, वायुकाय विशेषाधिक और उससे सिद्ध जीव अनन्त गुण हैं। सिद्धों से निगोद (अनन्त जीवों का पिण्ड भूत एक शरीर) के जीव अनन्तगुणे हैं। सूई के अग्र भाग पर निगोद पिण्ड का जितना भाग आये, इतने भाग में असंख्यात प्रतर होते हैं, उन प्रतरों में से एक-एक प्रतर में असंख्यात-श्रेणियाँ होती हैं, एक-एक श्रेणी में असंख्यात गोलक होते हैं। एक-एक गोलक में असंख्यात शरीर होते हैं, उन एक-एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव होते हैं। ये निगोद बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रत्येक संसारी आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्म-वर्गणाएँ लगी हुई हैं, एक-एक वर्गणा में अनन्त पुद्गल परमाणु हैं। इस तरह अनन्त परमाणु आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल परमाणु आत्मा से अलग हैं।

द्रव्य रूप से अपनी आत्मा का विस्तृत परिचय लेने के बाद मैं अपनी आत्मा की मुख्य रूप से वर्तमान आठ पर्यायों पर विचार करता हूँ। मेरी आत्मा लगातार अन्यान्य स्व-पर पर्यायों को प्राप्त करती रहती है और उसमें हमेशा उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार पाया जाता है। इसलिए मेरी आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोग की अपेक्षा से सामान्य रूप में सभी आत्माएँ एक प्रकार की हैं, किन्तु विशिष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मानकर आत्मा के आठ भेद बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) द्रव्यात्मा—त्रिकालवर्ती द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है, जो सभी आत्माओं के होती है।

(2) कषायात्मा—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय से विशिष्ट आत्मा कषायात्मा है। उपशान्त एवं क्षीण कषाय आत्माओं के सिवाय शेष सभी संसारी आत्माओं के कषायात्मा होती है।

(3) योगात्मा—मन, वचन, काया के व्यापार में प्रवर्तित होती

हुई योगप्रधान आत्मा योगात्मा है। योगवाली सभी आत्माओं के योगात्मा होती है। अयोगी केवली और सिद्धों के यह आत्मा नहीं होती, क्योंकि वे रोग-रहित होती हैं।

(4) उपयोगात्मा—साकार—अनाकार रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगात्मा है। यह आत्मा सिद्ध और संसारी—सम्यक् दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी आत्माओं के होती है।

(5) ज्ञानात्मा—विशेष अनुभव रूप सम्यक् ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है।

(6) दर्शनात्मा—सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा को दर्शनात्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवों के होती है।

(7) चारित्रात्मा—चारित्र गुण विशिष्ट आत्मा चारित्रात्मा कहलाती है। यह आत्मा विरति ग्रहण करनेवालों के होती है।

(8) वीर्यात्मा—यह आत्मा उत्थान आदि रूप कारणों से युक्त होती है तथा सभी संसारी जीवों के होती है। यहाँ वीर्य का अर्थ लिया जाता है— सकरण वीर्य और सकरण वीर्य सिद्ध आत्माओं के नहीं होता। अतः उनमें वीर्यात्मा का सद्भाव नहीं माना जाता है। किन्तु उनमें भी लब्धिवीर्य की अपेक्षा से वीर्यात्मा का सद्भाव माना जाता है।

आत्मा की ये आठों एक प्रकार से पर्यायें हैं। मैं चिन्तन करता हूँ कि इन आठों पर्यायों का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? क्या एक पर्याय की विद्यमानता में दूसरी पर्याय का अस्तित्व रहता है? वीतराग देवों ने इन प्रश्नों के सुन्दर समाधान उपदेशित किये हैं। जब किसी जीव के द्रव्यात्मा होती है, तो कषायात्मा होती है और नहीं भी होती है। सकषायी द्रव्यात्मा के कषायात्मा होती है और अकषायी द्रव्यात्मा के नहीं। किन्तु जिसके कषायात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम रूप से होती है, क्योंकि द्रव्यत्व के बिना कषायों की संभावना नहीं होती। यही अवस्था योगात्मा की भी होती है और द्रव्यत्व के साथ ही योग व्यापार संभव होता है। परन्तु द्रव्यात्मा के साथ उपयोगात्मा नियम से होती है—दोनों का परस्पर नित्य—सम्बन्ध होता है। ये दोनों आत्माएँ सिद्ध एवं संसारी सभी जीवों के होती हैं। ज्ञानात्मा सम्यक्

दृष्टि द्रव्यात्मा के होती है, मिथ्यादृष्टि द्रव्यात्मा के नहीं, किन्तु जिसके ज्ञानात्मा है, उस के द्रव्यात्मा नियम से होती है, क्योंकि द्रव्य के बिना ज्ञान नहीं होता। दर्शनात्मा सभी जीवों के होती है। उपयोगात्मा की तरह दर्शनात्मा का भी द्रव्यात्मा से नित्य सम्बन्ध होता है।

ज्ञानात्मा की तरह ही चारित्रात्मा विरत द्रव्यात्मा के होती है, अविरत के नहीं, किन्तु चारित्रात्मा के द्रव्यात्मा होती ही है। यही वीर्यात्मा की अवस्था है। संक्षेप में द्रव्यात्मा में कषायात्मा, योगात्मा, ज्ञानात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भंजना है, पर उक्त आत्माओं में द्रव्यात्मा का रहना निश्चित है।

इस प्रकार मैं आत्म-स्वरूपी हूँ। अपनी द्रव्यात्मा के साथ आत्मा की अन्य पर्यायों में रमण करता रहता हूँ। यह भी मैं जान गया हूँ कि मेरी आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियों द्वारा नहीं जानी जा सकती और अमूर्त होने से ही वह नित्य है। मेरी आत्मा के साथ जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि दोष रहे हुए होते हैं, उन्हीं के कारण मेरे कर्म बंध होता है तथा इस कर्म-बंध के कारण ही मेरा संसार में परिभ्रमण चलता है।

मैं जानता हूँ कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग मेरी आत्मा के लक्षण हैं। मेरी आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही मेरी आत्मा है। जो ज्ञान के द्वारा जानती है, वही मेरी आत्मा है। ज्ञान की विशिष्ट परिणति की अपेक्षा से ही मेरी आत्मा ज्ञानात्मा कहलाती है। इस रूप में मैं आत्मवादी हूँ, क्योंकि मैं मेरे ज्ञान एवं मेरी आत्मा की एकता को जानता हूँ और मेरी आत्मा संयम का अनुष्ठान करके सम्यक् पर्याय को प्राप्त करती है।

अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के संचरण में मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष है और मेरी यही आत्मा अपनी उच्चस्थ स्थिति में स्वर्ग की कामधेनु और नन्दन वन है। जब मेरी आत्मा सद अनुष्ठानों में रत बनती है, तब वह सुख देनेवाली और दुःख दूर करनेवाली हो जाती है। परन्तु जब असद् अनुष्ठानों में भटकने लगती है, तो वहीं मेरी आत्मा दुःख देनेवाली और सुख छीननेवाली बन जाती है। सदनुष्ठान रत आत्मा उपकारी होने से

मित्र रूप है, तो दुराचार में प्रवृत्त यही आत्मा अपकारी होने से शत्रु रूप हो जाती है। अतएव मेरा अनुभव है कि मेरी आत्मा सुख और दुःख को देनेवाली तथा मित्र एवं शत्रु रूप है। इस रूप में मैं अपने आपको उदबोधन देता हूँ कि मैं जागूँ और समझूँ, अपनी आत्मा के स्वरूप को, जो सद अनुष्ठानों में प्रवृत्त रहे, तो वही मेरी सबसे श्रेष्ठ मित्र है, फिर मुझे अपने मित्र की बाहर कहाँ खोज करनी है? इस सत्य को भी मैं हृदयंगम करूँ कि दुराचार में लगी हुई मेरी आत्मा मेरा सिर काट देनेवाले शत्रु से भी अधिक मेरा अपकार करती है, क्योंकि दया रूप क्रिया एवं करुणा से शून्य मेरी आत्मा दुराचार में अंधी प्रवृत्ति करते हुए अपने उत्थान का कोई विचार नहीं कर पाती और जब अपने वर्तमान जीवन के अन्त तक पहुँचती है, तो अपने दुराचारों को याद करके दुःखग्रस्त बनकर पश्चाताप करती है।

आत्म स्वरूप के इस वृहद् विश्लेषण से मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना है, उस पर सच्ची श्रद्धा बनानी है और उस आस्थायुक्त ज्ञान को सदनुष्ठानों में ढालना है, ताकि मैं अपनी आत्मा को उसका ही ज्ञाता-विज्ञाता बनाकर तथा उपकारी मित्र का रूप देकर विरत बनूँ-देशविरति से सर्वविरति के सोपानों पर आरोहण करूँ। आत्म-विकास की मेरी महायात्रा की यही गंतव्य दिशा है।

आत्मानुभव की सर्वोच्च अवस्था में विचरण करते हुए मेरी अनुभूति होगी कि उस का वर्णन करने में सभी शब्द लौट आते हैं और कोई तर्क भी प्रभावी नहीं होता। बुद्धि भी उस विषय को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होती। मेरी आत्मा की वही अवस्था आभामय होती है और वह किसी अन्य स्थान पर नहीं, अपने ही भीतर आत्म-ज्ञाता और आत्म-दृष्टा के रूप में होती है। वही अवस्था न बड़ी है, न छोटी है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमंडल है। न वह काली है, न नीली है, न लाल है, न पीली है और न सफेद है। वह न सुगंधमयी है, न दुर्गंधमयी है और न तीखी है, न कटुक है, न कषैली है, न खट्टी है तथा न मीठी है। वह न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हलकी है, न ठंडी है, न गर्म है, न चिकनी है और न रूखी है। वह न लेश्यावान है, न उत्पन्न होनेवाली है और उसमें कोई आसक्ति

भी नहीं है। न वह स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक। वह शुद्धात्मा है, ज्ञाता है और अमूर्च्छित है। उसकी कोई तुलना नहीं। वह एक अमूर्तिक सत्ता है। पदातीत के लिए उसका कोई नाम भी नहीं है। वह शुद्धात्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है। बस इतने ही वर्णन से आत्म-स्वरूप का ज्ञान पर्याप्त है। तदनुसार शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं न दीर्घ, न ह्रस्व, न स्त्री, न पुरुष और न नपुंसक हूँ और वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्शवाला भी नहीं हूँ। मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अवेदी, अखेदी, अलेशी और अजर-अमर आदि गुणों से सम्पन्न हूँ। ये वे आध्यात्मिक रहस्य हैं, जिनमें प्रगति करने के लिए मेरा कर्तव्य है कि मैं समतादर्शी वीतराग देवों की आज्ञा में चलूँ—यही मेरी आत्मा के स्वभाव और धर्म की प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। जैसे जल में नहीं डूबा हुआ द्वीप कष्ट में फँसे हुए समुद्र के यात्रियों के लिए आश्रय-स्थल होता है, उसी प्रकार समतादर्शी द्वारा प्रतिपादित धर्म सांसारिक दुःखों में फँसे हुए प्राणियों के लिए आश्रय-स्थल होता है।

ऐसे आत्मोत्थानकारी सिद्धान्तों के ज्ञान एवं आचरण में विभोर बनकर मेरी आत्मा स्वयं को उद्बोधित करती है—हे आत्मन! तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर की ओर मित्र की खोज क्यों करता है? जिसे तुम ऊँचे आध्यात्मिक मूल्यों में जमा हुआ जानो, उसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो और जिसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो, उसे तुम ऊँचे आध्यात्मिक मूल्यों पर जमा हुआ जानो। अतः तुम अपने मन का निग्रह करके ही जीना सीखो और यदि ऐसा करोगे, तो दुःखों से छूट जाओगे। तुम ही सत्य का निर्णय करो, क्योंकि जो सदा सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहता है, वही मेधावी मृत्यु को जीत लेता है। तुम सुन्दर चित्तवाले संयम-युक्त बनकर जब धर्म को ग्रहण करोगे, तो श्रेष्ठतम को भी भली-भाँति देख सकोगे। संयमयुक्त चित्तवाले होने से कभी व्याकुलता में नहीं फँसोगे। तुम अपनी ही अनुपम आत्मानुभूति को जान लो, तो सभी विषमताओं को भी जान लोगे। प्रमादी विषमताधारी होता है और इसी कारण सभी ओर से भयभीत भी होता है, जबकि अप्रमादी समताधारी किसी ओर से भी

भयभीत नहीं होता। अतः तुम भी प्रमाद छोड़कर समता को ग्रहण कर लो और निर्भय बन जाओ।

यह आत्मोद्बोधन मेरी भीतरी गहराई तक मुझे छू जाता है और मैं भावाभिभूत हो जाता हूँ कि वीतराग देवों की आज्ञा को भली प्रकार से समझकर मैं कुछ विशिष्ट आत्मिक प्रगति के चरण उठाऊँ। आत्मा ही मेरी शरण है। सदाचार ही मोक्ष का सोपान है और यदि चारित्र्य से विशुद्ध बना हुआ ज्ञान अल्प भी है, तब भी महान फल प्रदायक है। शील गुण से रहित होना मनुष्य जन्म को निरर्थक करना है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहना ही शील है। शीलाचार के बिना इन्द्रियों के विषय मेरी आत्मा के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। जीव दया, धर्म, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्ज्ञान, दर्शन और तप—यह सब शील का परिवार है—आचार के अंग हैं।

मैं आत्म-स्वरूपी हूँ, एकमात्र उपयोगमय और ज्ञानमय हूँ। मैं तो शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, सदाकाल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्व हूँ। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है। मैं ही मेरा कर्ता हूँ और मैं ही मेरा भोक्ता। अपने इस स्वरूप को मैं अपनी ही आत्म-प्रज्ञा अर्थात् भेद-विज्ञान रूप बुद्धि से जानता हूँ। अब नमस्कार महामन्त्र के पाँच पदों की दृष्टि से आत्मसमीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि हमारी आत्मा को उन-उन पदों से संयोजित कर चिन्तन करने पर उसकी गुणात्मकता की अनुभूति हो सके और आत्मा विकास-पथ पर प्रयाण करने के सत्साहस को बढ़ा सके।

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूँ !

मैं अपने आत्मस्वरूप को पहचानता हूँ, सम्यक् दृष्टि और सुव्रती बनता हूँ तथा रत्नत्रयाराधक मुनि बन जाता हूँ।

मैं छः काया के जीवों का रक्षक हूँ, अतः मैं ऐसे किसी कार्य का उपदेश नहीं देता, जिससे किसी भी प्रकार की जीव हिंसा हो। मैं अहिंसा को परम धर्म और महावीरता मानता हूँ। जो व्यक्ति भयंकर शस्त्रास्त्र एकत्रित करके स्वरक्षा और परसंहार के लिए दीन, हीन, दुःखियों के प्राण हरता है, वह कदापि वीर नहीं हो सकता। यदि उसे

वीर कहें, तो अधिक झूठ बोलनेवाले, चोरी करनेवाले, व्यभिचारी और आडम्बरी भी वीर कहलायें। वीर का अर्थ होता है— उत्साहपूर्णता और यह उत्साह फूटना चाहिए— अपने ही आत्मदोषों के निवारण में। अपने ही भीतर रहे हुए द्वेष, हिंसा, क्रूरता, क्रोध आदि दोषों से युद्ध करना सच्ची वीरता है। अतः मैं वीर हूँ—अहिंसक वीर। मैं किसी भी जीव के प्राणों का व्यतिरोपण न स्वयं करता हूँ, न दूसरे से करवाता हूँ तथा न करनेवाले का किसी भी रूप में अनुमोदन करता हूँ। इसका पालन मैं अपने मन, वचन और अपनी काया से करता हूँ। अतः मैं कच्चा पानी, कच्चे शाक या फल, कच्चा धान या ऐसी किसी वस्तु को जिसमें जीवाणुओं का अस्तित्व हो—उपयोग में तो लेना दूर, उनका स्पर्श तक नहीं करता हूँ, ताकि छोटे-से-छोटे जीवों के प्राण भी मेरे द्वारा कष्टित न हों। इतना ही नहीं, भिक्षा के समय यदि जीवाणुओं से युक्त कोई वस्तु भी मेरे लेने योग्य वस्तु से छू रही हो, तो उस लेने योग्य वस्तु को भी मैं ग्रहण नहीं करता हूँ। समस्त जीवों के प्रति दया, करुणा, अनुकम्पा एवं रक्षा के भावों से मेरा हृदय सदा—सर्वदा यतना और सजगतापूर्वक सतत सावधान रहता है।

मैं असत्य अथवा असत्कथन का भी सर्वथा त्यागी होता हूँ। असत् कथन तीन प्रकार से हो सकता है—(1) जो वस्तु सत् (विद्यमान) हो, उसका एकदम निषेध कर देना, (2) एकदम निषेध न करते हुए भी उसका वर्णन इस प्रकार करना कि जिससे सुननेवाला भ्रम में पड़ जाये तथा (3) बुरा वचन सुननेवाले को कष्ट हो या सत्य होने पर भी जिस कथन में दूसरे को हानि पहुँचाने की दुर्भावना हो। यद्यपि असत्कथन को ही अनृत कहा गया है, किन्तु मन, वचन और काया से असत्य का अर्थ लेने पर असत् चिन्तन, असत्कथन और असदाचरण से भी मैं दूर रहता हूँ। मैं किसी के विषय में न बुरा सोचता हूँ, न बुरा कहता हूँ और न बुरा आचरण करता हूँ। मैं सत्य की शोध को सफल बनाने के लिए प्रमत्त योग का त्याग करता हूँ, मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एकरूपता लाने का अभ्यास करता हूँ तथा क्रोधादि कषाय का भी त्याग करता हूँ, क्योंकि कई बार क्रोधादि के आवेश में भी असत्य भाषण हो जाता है। सत्य होने पर भी मैं दुर्भावना से न किसी बात को

सोचता हूँ, न बोलता हूँ और न करता हूँ।

मैं अदत्तादान को स्तेय-कर्म मानता हूँ और उसका मैं सर्वथा त्याग करता हूँ। दूसरे के अधिकार की कोई भी वस्तु, चाहे वह तृण के समान मूल्यरहित हो-मुझे अभीष्ट नहीं है। किसी वस्तु के प्रति लालसा की वृत्ति ही मेरे लिए त्याज्य है। मैं मानता हूँ कि कहीं भी ग्राम-नगर में अथवा अरण्य में सचित, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना अदत्तादान है, तो प्राणधारी आत्मा का प्राणहरण भी उसकी आज्ञा न होने से अदत्तादान है। वीतराग देवों द्वारा निषिद्ध आचरण का सेवन करना भी अदत्तादान है, तो गुरु की आज्ञा के बिना कोई वस्तु ग्रहण करना भी अदत्तादान है। मैं सचित पदार्थ हो या अचित्त पदार्थ, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य पदार्थ, यहाँ तक कि दांत कुरेदने का तिनका ही क्यों न हो, स्वामी से याचना किये बिना न स्वयं ग्रहण करता हूँ, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता हूँ और न ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन ही करता हूँ।

मैं मैथुन का सर्वथा त्याग कर आत्मस्वरूप में रमण करता हूँ, क्योंकि कामराग-जनित कोई भी चेष्टा, चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा अप्राकृतिक-अब्रह्मचर्य होता है तथा अब्रह्मचर्य आत्म-विकास का अवरोधक होता है। मैं ब्रह्मचर्य का अमित महत्व मानता हूँ, क्योंकि एकमात्र ब्रह्मचर्य की साधना करने से अन्य सभी गुणों की साधना हो जाती है। शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति-ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। मैं पूर्ण प्रयत्नशील रहता हूँ कि स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम-चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को मन में तनिक भी स्थान न दूँ एवं रागपूर्वक देखने तक की भी कोशिश न करूँ, मैं जानता हूँ कि मुझे स्त्रियों को न रागपूर्वक देखना चाहिए और न उनकी अभिलाषा करनी चाहिए। स्त्रियों का चिन्तन और कीर्तन भी मुझे नहीं करना चाहिए। मैं सदा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए उत्तम ध्यान में लीन रहता हूँ। मैं अपने मन, वचन, काया को गोपन करनेवाला मुनि हूँ और वस्त्राभूषण से अलंकृत सुन्दर अप्सराएँ भी मुझे मेरे मुनि धर्म और संयम से

विचलित नहीं कर सकती, फिर भी मैं सर्वतया हितकारी एकान्तवास का आश्रय लेता हूँ। मैं अपने लिए टूटे हुए हाथ-पैरवाली और कटे हुए कान-नाकवाली सौ वर्ष की बुढ़िया का संग भी वर्जनीय मानता हूँ। मैं पूर्णतया स्थिरचित्त होता हूँ, फिर भी आर्याओं तक का अधिक सम्पर्क समुचित नहीं मानता। मैं अपने लिए शरीर के शृंगार, स्त्रियों के संसर्ग तथा पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन को तालपुट विष के समान मानता हूँ। ये मेरे संयम की घात करनेवाले होते हैं। नववाड़ से ब्रह्मचर्य का पालन मेरा महाव्रत है।

मैं निर्ग्रथ और निष्परिग्रही हूँ। किसी भी वस्तु में, चाहे वह छोटी-बड़ी, जड़-चेतन, बाह्य-आभ्यन्तर या किसी भी प्रकार की हो, मेरी कोई आसक्ति नहीं है और जब आसक्ति नहीं है, तो उसमें बंध जाने या विवेक खोकर परिग्रही कहलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं जानता हूँ कि वास्तविक परिग्रह धन-सम्पत्ति स्वयं न होकर उसमें रही हुई व्यक्ति की मूर्छा है। मूर्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट भी अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्छा होने से एक भिखारी भी परिग्रही होता है। भिखारी ही क्यों, अपने वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों में मूर्छा-भाव रखकर मुनि भी परिग्रही हो सकता है। मैं किसी भी वस्तु का संग्रह करने की इच्छा तक नहीं करता हूँ, क्योंकि ऐसी इच्छा करनेवाला साधुवेश रखते हुए भी साधु नहीं होता। मैं वस्त्र, पात्र, कंबल और रजोहरण आदि जो भी वस्तुएँ रखता हूँ, वे एकमात्र संयम की रक्षा के लिए रखता हूँ तथा अनासक्त भाव से उनका उपयोग करता हूँ। मैं यत्नशील रहता हूँ कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखूँ-उसे मात्र धर्म-साधन मानकर चलाऊँ। मैं ममत्व-बुद्धि का त्याग करते हुए स्वीकृत परिग्रह का त्याग करता हूँ और मेरा विश्वास है कि जब मेरे ममत्व और परिग्रह नहीं होंगे, तो मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रय की आराधना के मार्ग पर ही अग्रगामी बनूँगा।

मैं निःशल्य व्रती हूँ, क्योंकि सच्चे त्याग के लिए शल्यरहित होना नितान्त आवश्यक है। शल्य तीन हैं—(1) दंभ, पाखंड या मायाचार, (2) भोगों की लालसा तथा (3) असत्य का आग्रह एवं सत्य के प्रति अश्रद्धा। मैं इन तीनों शल्यों को मानसिक दोष मानता हूँ और

इन तीनों से मुक्त रहने को श्रेयस्कर, क्योंकि ये तीनों शल्य शरीर, मन और आत्मा को अस्वस्थ बनाते हैं। शल्य रखते हुए कोई भी कैसा भी व्रत ले ले, किन्तु उस का वह समुचित रीति से पालन नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार शरीर में कोई कांटा या तीखी चीज धंस जाये, तो वेदना से तन, मन अशान्त हो जाता है, उससे भी ये तीनों शल्य आत्मा के लिए अत्यन्त वेदनाकारी होते हैं। इसलिए मैं शल्य रहित होकर अपने मुनिव्रतों का अनुपालन करता हूँ।

मेरा मुनि धर्म किसी जाति, कुल, सम्प्रदाय, वेश या क्रियाकांड विशेष को महत्व नहीं देता। मेरे लिए वीतराग प्ररूपित संयम, त्याग और तप ही महत्वपूर्ण हैं। धर्माराधना और शरीर निर्वाह के लिए जितने उपकरणों की मर्यादा है, उससे अधिक मैं नहीं रखता। मैं कोई धातु या उससे बनी वस्तु या रुपया, पैसा, मुद्रा भी अपने पास नहीं रखता। आवश्यकता पड़ने पर सूई तक भी यदि गृहस्थ के पास से लाता हूँ, तो उसे उसी दिन सूर्यास्त के पहले लौटा देता हूँ। मैं सूर्यास्त के बाद न कुछ खाता हूँ, न पीता हूँ, न वैसी कोई वस्तु अपने पास रखता हूँ। सदा पैदल विहार करता हूँ—पैरों में जूते नहीं पहनता या सिर पर पगड़ी, टोपी, छाता नहीं लगाता। जलती हुई धूप हो या कड़कडाती सर्दी—नंगे पैर और नंगे सिर ही रहता हूँ। स्वावलम्बी और निष्परिग्रही होने के कारण नापित आदि से बाल नहीं बनवाता, बल्कि अपने ही हाथों से उन्हें उखाड़कर लोच करता हूँ। इसी प्रकार मैं गृहस्थ से भी कभी सेवा नहीं करवाता और बीमारी या अशक्ति में ही अत्यन्त संकोचपूर्वक अपने साथी मुनि की सहायता लेता हूँ। मेरा आहार न मैं किसी से बनवाता हूँ और न अपने निमित्त बने हुए आहार को ग्रहण ही करता हूँ। जैसे गाय ऊपर के घास को चरती है और उसे उखाड़ती नहीं है, उसी प्रकार मैं गृहस्थी के घर से थोड़ा-थोड़ा आहार भिक्षा में लाकर गोचरी करता हूँ, जिससे उन्हें न कष्ट हो और न भोजन दुबारा बनाना पड़े। मैं विविध तपस्याएँ करता हुआ संयम—पूर्वक अपना निर्वाह करता हूँ और आत्मरमण की अवस्था में रहता हूँ। मैं प्रतिदिन प्रातः एवं सायं प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने पापों की आलोचना करता हूँ, प्रायश्चित्त लेता हूँ तथा भविष्य में उन्हें न दोहराने

का संकल्प ग्रहण करता हूँ। संयम की रक्षा के लिए कठिन परीषह भी मैं हर्षपूर्वक सहता हूँ। अपने आचार के अनुसार निर्दोष आहार न मिले, तो मैं स्वेच्छापूर्वक अनशन तप कर लेता हूँ तथा निर्दोष जल न मिलने पर शान्तिपूर्वक तृषा को भी सह लेता हूँ। मेरी प्रत्येक वृत्ति और प्रवृत्ति समता वृत्ति को बढ़ानेवाली होती है कि मैं समभावी और समदृष्टि बनते हुए समताधारी बनूँ।

मैं क्षान्त, दान्त, निरारंभी हूँ। मेरी क्षमा और मेरी जितेन्द्रियता मुझे छः काया के जीवों के रक्षक के रूप में निरारंभी बनाती है। समस्त त्रस एवं स्थावर जीवों की रक्षा करने के कारण मैं अनाथ नहीं रहा, उनका नाथ हो गया। जो निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं, किन्तु परीषह एवं उपसर्गों के आने पर कायर बन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं करते हैं, यह उनकी अनाथता होती है। मैं ऐसी अनाथता को समझता हूँ तथा उसे पास में भी नहीं फटकने देता।

मैं पाँच समिति और तीन गुप्ति का आराधक हूँ। इस रूप में मैं प्राणतिपात से निवृत्त होने के लिए यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृत्ति करता हूँ, वही समिति है। मैं ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के निमित्त युग-परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि में यतनापूर्वक गमनागमन करता हूँ, यतनापूर्वक ही भाषण में प्रवृत्ति करता हूँ, गवेषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी ऐषणा के दोषों से अदूषित विशुद्ध आहार, पानी, उपकरण, शय्या, पाट आदि औपग्रहिक उपधि को ग्रहण करता हूँ, यतनापूर्वक भांड आदि उपकरणों को देखता, पूंजता व रखता हूँ तथा उपयोगपूर्वक परठने-योग्य लघुनीत, मल, मैल आदि को परठता हूँ। मैं इस प्रकार अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करता हूँ। मैं मनोगुप्ति के माध्यम से पापपूर्ण संकल्प-विकल्प नहीं करते हुए योग के साथ अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त होता हूँ, वचन के अशुभ व्यापार को त्यागकर विकथा न करते हुए मौन रहता हूँ एवं कायिक व्यापारों में प्रवृत्ति न करते हुए अयतना का परिहार कर अशुभ व्यापारों का त्याग करता हूँ।

मैं आहार की गवेषणा की शुद्धि के लिए सोलह उद्गम दोष,

सोलह उत्पादन दोष तथा दस एषणा दोष— कुल बयालीस दोषों का परिहार करता हूँ। उद्गम दोष हैं—(1) आधाकर्म—किसी खास साधु को मन में रखकर उसके निमित्त से सचित वस्तु को अचित्त करना या अचित्त वस्तु को पकाना। यह दोष प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, संवसन और अनुमोदन रूप चार प्रकार से लगता है। (2) औद्देशिक—सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से आहार आदि तैयार करना। किसी खास साधु के लिए बनाया गया आहार यदि वही साधु ले, तो आधाकर्म दोष और दूसरा साधु ले, तो औद्देशिक दोष होता है। (3) पूर्तिकर्म—शुद्ध आहार में आधाकर्म आदि का अंश मिल जाना। ऐसा थोड़ा—सा अंश भी पूरे निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। (4) मिश्रजात—अपने और साधु के निमित्त से एक साथ पकाना। (5) स्थापन—साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिए आहार को अलग रख देना। (6) प्राभृतिका—साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमनवार या निमंत्रण के समय को आगे—पीछे करना। (7) प्रादुष्करण—आहार आदि को अंधेरी जगह में से प्रकाशवाली जगह में लाना। (8) क्रीत—साधु के लिए आहार मोल लाना। (9) प्रामित्य—साधु के लिए उधार लिया हुआ आहार लाना। (10) परिवर्तित—साधु के लिए आटा—साटा करके आहार लाना। (11) अभिहत—साधु के लिए एक से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार। (12) उद्भिन्न—साधु को घी वगैरह के लिए सील बन्द कुप्पी का मुँह खोलकर देना। (13) मालापहत—एड़ियाँ उठाकर या निसरणी लगाकार आहार देना। (14) आच्छेद्य—अपने आश्रित से छीनकर साधु को देना। (15) अनिसृष्ट—किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सबकी इच्छा के बिना देना। (16) अध्यवपूर्वक—साधुओं के आने का सुनकर आदण में अधिक ऊंर देना। उत्पादना के सोलह दोष—(1) धात्री—धाय को नौकरी लगवाकर आहार लेना, (2) दूती —दूत का काम करके आहार लेना, (3) निमित्त—ज्योतिष बता कर आहार लेना, (4) आजीव—जाति, कुल प्रकट करके आहार लेना, (5) वनीपक—प्रशंसा करके या दीनता दिखाकर आहार लेना, (6) चिकित्सा—औषधि बताकर आहार लेना, (7) क्रोध—गुस्सा करके या शाप, आदि का डर दिखाकर आहार लेना,

(8) मान-प्रभाव जमाकर आहार लेना, (9) माया-छलावा करके आहार लेना, (10) लोभ-जिहवा के स्वाद के लोभ में अमुक आहार के लिए भटकना, (11) प्राक्पश्चात्संस्तव -पहले या पीछे दाता की तारीफ करके आहार लेना, (12) विद्या-विद्या (जप होप आदि से सिद्ध) का प्रयोग करके आहार लेना, (13) मंत्र -मंत्र-प्रयोग से आहार लेना, (14) चूर्ण-अदृश्य करनेवाले सूरमे आदि के प्रयोग से आहार लेना, (15) योग-सिद्धियाँ बताकर आहार लेना, (16) मूलकर्म-सावद्य क्रियाएँ (गर्भपात आदि) बताकर आहार आदि लेना। ग्रहणैषणा के दस दोष-(1) शंकित-आधाकर्म आदि दोषों की शंका हो जाने पर भी आहार लेना, (2) म्रक्षित-सचित्त वस्तु से छू जाने पर भी आहार लेना, (3) निक्षिप्त-सचित्त वस्तु के ऊपर रखी वस्तु लेना, (4) पिहित-सचित्त वस्तु द्वारा ढकी हुई वस्तु लेना, (5) साहरित -जिस बर्तन में सचित्त वस्तु रखी हो, उसमें से सचित्त वस्तु निकालकर उसी बर्तन से दिया आहार लेना, (6) शराब पिये हुए व्यक्ति से या गर्भिणी महिला से या इसी प्रकार के किसी व्यक्ति से जो दान देने का अधिकारी न हो, उससे दान लेना, (7) उन्मिश्र-सचित्त-अचित्त मिला हुआ आहार लेना, (8) अपरिणत-पूरे पाक के बाद वस्तु के निर्जीव होने से पहिले ही उसे ले लेना, (9) लिप्त-लेप करनेवाली रसीली वस्तुओं को लेना, (10) छर्दित-जिसके छींटे नीचे पड़ रहे हो, वैसा आहार लेना। मैं इन बयालीस दोषों को टालकर आहार आदि की गवैषणा करता हूँ और निर्दोष आहार मिलने पर ही उसे ग्रहण करता हूँ अन्यथा आहार आदि से सम्बन्धित परीषहों को सहन करता हूँ।

मैं अपने साध्याचरण को समाचारीपूर्वक श्रेष्ठ बनाये रखता हूँ और उस समाचारी के इन दस नियमों का पालन करता हूँ-(1) इच्छाकार-मैं अपने साथी साधु से किसी कार्य की प्रार्थना करते अथवा स्वयमेव उसके द्वारा मेरा कार्य करते समय इच्छाकार कहता हूँ अर्थात् कोई भी कार्य बलपूर्वक नहीं किया-कराया जाता। (2) मिथ्याकार-संयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो, तो उस पाप के लिए मैं 'मिच्छामि दुक्कड़' कहकर अपने पाप के निष्फल होने का पश्चाताप करता हूँ। (3) तथाकार-मैं सूत्र आदि

के विषय में गुरु को जब कुछ पूछता हूँ और वे उत्तर देते हैं, तो मैं 'जैसा आप कहते हैं, वही ठीक है', ऐसा कहता हूँ। (4) आवश्यकता—आवश्यक कार्य के लिए जब मैं उपाश्रय से बाहर निकलता हूँ, तो 'आवस्सिया' कहता हूँ कि मैं आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ। (5) नैषेधिकी—बाहर से वापस उपाश्रय में लौटते हुए मैं 'निसीहिया' कहता हूँ कि अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नहीं है। (6) आपृच्छना—किसी कार्य में प्रवृत्ति करने से पहिले में गुरु से 'क्या मैं यह करूँ' ऐसा पूछता हूँ। (7) प्रतिपृच्छा—गुरु ने पहले जिस काम का निषेध कर दिया है, उसी कार्य में आवश्यकतानुसार फिर प्रवृत्ति करनी हो, तो मैं गुरु से उसकी पुनः आज्ञा प्राप्त करता हूँ। (8) छन्दना—पहले लाये हुए आहार के लिए अपने साथी-साधुओं को आमंत्रण देता हूँ। (9) निमंत्रणा—आहार लाने के लिए अपने साथी साधुओं को निमंत्रण देता हूँ या पूछता हूँ। (10) उपसंपद—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए मैं अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष ज्ञानवाले गुरु का आश्रय लेता हूँ।

मुझ सर्वथा परिग्रह के त्यागी, छः काया के रक्षक, संयमस्थित मुनि के लिए 52 बातें आचरण के अयोग्य, अकल्पनीय तथा अनाचीर्ण बतलायी गयी हैं, जिनका मैं परिहार करता हूँ। वे इस प्रकार हैं—(1) औद्देशिकी—साधु के निमित्त से तैयार किये गये वस्त्र, पात्र, मकान, आहार आदि स्वीकार कर सेवन करना। (2) क्रीतकृत—साधु के लिए आहार आदि मोल लिया गया हो, उसका सेवना करना। (3) नियोग—आहार—पानी के लिए आमंत्रित होकर गृहस्थ के घर से भिक्षा लाना। (4) अभ्याहृत—घर या गाँव से सामने लाया हुआ आहार लेना। (5) रात्रि भोजन—रात्रि में आहार लेना या दिन में लाया हुआ रात में खाना। (6) स्नान—देश या सर्व स्नान करना। (7) गंध—चन्दन आदि सुगंधित वस्तुओं का सेवन करना। (8) माल्य—पुष्पमाला का सेवन करना। (9) वीजन—पंखे आदि से हवा लेना। (10) सन्निधि—गुड़, घी आदि वस्तुओं का संचय करना। (11) गृहिमात्र—गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करना। (12) राजपिंड—राजा के लिए तैयार किया गया आहार लेना। (13) किमिच्छक—'तुमको क्या चाहिए?'—ऐसा

याचक से पूछकर जहाँ उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है, ऐसी दानशाला आदि से आहार लेना। (14) संबाधन-अस्थि, मांस, त्वचा और रोम के लिए सुखकारी मर्दन अर्थात् हाथ-पैर आदि अवयवों को दबाना। (15) दन्त प्रधावन-अँगुली आदि से दांत साफ करना। (16) संप्रश्न-गृहस्थ से कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्न पूछना। (17) देह प्रलोकन-दर्पण आदि में अपना शरीर देखना। (18) अष्टापद नालिका-नाली से पाशे फँककर या अन्य प्रकार से जुआ खेलना। (19) छत्रधारण -स्वयं छत्र धारण करना या कराना। (20) चिकित्सा -रोग का इलाज करना या बलवर्धक औषधियों का सेवन करना। (21) उपानह-जूते मौजे आदि पहिनना। (22) आरंभ-अग्नि का आरंभ करना। (23) शय्यांतर पिंड-शय्या, मकान आदि देनेवाले गृहस्थ के घर से आहार लेना। (24) आसन्दी-बेंत आदि के बने हुए आसन पर बैठना। (25) पर्यक-पलंग, खाट आदि का उपयोग करना। (26) गृहान्तर निषद्या-गृहस्थ के घर जाकर बैठना या दो घरों के बीच में बैठना। (27) गात्रोद्धर्तन-मैल उतारने के लिए शरीर पर उबटन करना। (28) गृही वैयावृत्य-गृहस्थ की सेवा लेना। (29) आजीववृत्तिता-जाति, कुल आदि बताकर भिक्षा लेना। (30) तप्तानिवृतभोजित्व-मिश्र पानी का भोगना। (31) आतुर स्मरण-भूख आदि से पीड़ित होने पर पहले भोगे हुए भोज्य पदार्थों को याद करना। (32) मूलए-सचित्त मूले का सेवन करना। (33) सिंगबेरे-अदरख का सेवन करना। (34) उच्छुखण्डे अनिव्युडे-इक्षुखंड (गंडेरी) का सेवन करना। (35) कन्द-वज्रकंद आदि कंदों का सेवन करना। (36) मूले-मूल (जड़) का सेवन करना। (37) सचित्त फले-आम, नींबू आदि सचित्त फलों का सेवन करना। (38) बीए आमए-तिल आदि सचित्त बीजों का सेवन करना। (39) सोवच्चले -संचल नमक का सेवन करना। (40) सैंधव लोणे-सैंधव नमक का सेवन करना। (41) रोमालोणे -रूमा लवण का सेवन करना। (42) समुद्दे-समुद्री नमक का सेवन करना। (43) पंसुखारे -पंसुखार नमक का सेवन करना। (44) कालालोणे-काले नमक का सेवन करना। (45) धूपन-अपने वस्त्रादि को धूप आदि लेकर सुगंधित करना। (46) वमन-औषधि लेकर वमन करना। (47) वस्तिकर्म-मल

आदि की शुद्धि के लिए वस्तिकर्म करना। (48) विरेचन—पेट साफ करने के लिए जुलाब लेना। (49) अंजन—आँखों में अंजन लगाना। (50) दंतकाष्ठ—दंतौन आदि से दांत साफ करना। (51) गात्राभ्यंग—सहस्रपाक आदि तेलों से शरीर का मर्दन करना तथा (52) विभूषण—वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर की शोभा करना। इन सभी बावन अनाचार को टालते हुए मैं अपनी संयम—यात्रा करता हूँ।

मेरे साधु होने का स्पष्ट अर्थ है— मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य द्वारा मोक्ष की साधना में रत रहता हूँ और तदनुसार अपने में उल्लिखित सत्ताईस गुणों का सदभाव रहे—ऐसा यत्न करता हूँ। वे गुण इस प्रकार हैं—(1-5) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना। (6) रात्रि भोजन का त्याग करना। (7-11) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय— इन पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना—न इष्ट में राग और न अनिष्ट में द्वेष। (12) भावसत्य—अन्तःकरण की भावनाओं की शुद्धि रखना। (13) करण सत्य—वस्त्र, पात्र आदि की प्रतिलेखना तथा अन्य बाह्य क्रियाओं को शुद्ध उपयोगपूर्वक करना। (14) क्षमा—क्रोध और मान का निग्रह अर्थात् दोनों कषायों को उदय में नहीं आने देना। (15) विरागता—निर्लोभी वृत्ति रखना अर्थात् माया और लोभ कषायों को उदय में नहीं आने देना। (16) मन की शुभ प्रवृत्ति। (17) वचन की शुभ प्रवृत्ति। (18) काया की शुभ प्रवृत्ति। (19-24) पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूप छः काय के जीवों की रक्षा करना। (25) योग सत्य—मन, वचन काया रूप तीनों योगों की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध तथा शुभता में प्रवृत्ति। (26) वेदनातिसहनता—शीत, ताप आदि वेदना को समभाव से सहन करना तथा (27) मारणन्तिकतिसहनता—मृत्यु के समय आनेवाले कष्टों को सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये कष्ट मेरे आत्म कल्याण के लिए हैं।

मैं सच्चा साधु या भिक्षु बनने का निरन्तर अध्यवसाय करता रहता हूँ, क्योंकि (1) मैं वीतराग देवों की आज्ञानुसार दीक्षा लेकर उनके वचनों में दत्तचित्त रहता हूँ और न स्त्रियों के वश में होता हूँ

तथा न त्यागे हुए विषयों का फिर से सेवन करता हूँ, न सेवन करनेवाले को अच्छा समझता हूँ। (2) मैं पृथ्वी को न स्वयं खोदता हूँ, न दूसरे से खुदवाता हूँ, सचित्त जल न स्वयं पीता हूँ, न दूसरे को पिलाता हूँ, तीक्ष्ण शस्त्र के समान अग्नि को न स्वयं जलाता हूँ, न दूसरे से जलवाता हूँ, न खोदनेवाले, पीनेवाले व जीलानेवाले को अच्छा समझता हूँ। (3) मैं पंखे आदि से हवा न स्वयं करता हूँ, न दूसरे से करवाता हूँ, वनस्पति काय का छेदन न मैं स्वयं करता हूँ, न दूसरे से करवाता हूँ और न बीज आदि सचित्त वस्तुओं का आहार करता हूँ, न करनेवाले, छेदन करनेवाले और सचित्त का आहार करनेवाले को अच्छा समझता हूँ। (4) मैं औद्देशिक या अन्य प्रकार से सावद्य आहार का सेवन नहीं करता और भोजन न स्वयं बनाता हूँ, न दूसरे से बनवाता हूँ न बनानेवाले को अच्छा समझता हूँ। (5) मैं वीतराग देवों के वचनों में अटूट श्रद्धा रखते हुए छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता हूँ, पाँच महाव्रतों का पालन करता हूँ तथा पाँच आश्रवों का निरोध करता हूँ। (6) मैं चार कषायों को छोड़ता हूँ, परिग्रह से रहित होता हूँ एवं गृहस्थों के साथ अधिक संसर्ग नहीं रखता हूँ। (7) मैं सम्यक् दृष्टि हूँ, विवेकवान हूँ तथा ज्ञान, तप व संयम पर विश्वास रखता हूँ, तपस्या द्वारा पुराने पापों की निर्जरा करता हूँ और अपने मन, वचन, काया को वश में रखता हूँ। (8) मैं विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम को प्राप्तकर उन्हें दूसरे या तीसरे दिन के लिए न संचित रखता हूँ, न दूसरे से रखवाता हूँ।

(9) मैं विविध प्रकार के अशन-पान आदि मिलने पर साधर्मी साधुओं को निमंत्रित करके स्वयं आहार करता हूँ और स्वाध्याय में लग जाता हूँ। (10) मैं क्लेश उत्पन्न करनेवाली बातें नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता, निज इन्द्रियों को चंचल नहीं होने देता, सदा प्रशान्त रहता हूँ, मन, वचन, काया को दृढ़तापूर्वक संयम में स्थिर रखता हूँ, कष्टों को शान्ति से सहता हूँ तथा उचित कार्य का अनादार नहीं करता हूँ। (11) मैं इन्द्रियों को कंटक के समान दुःख देनेवाले आक्रोश, प्रहार तथा तर्जना आदि को शान्ति से तथा भय, भयंकर शब्द व प्रहास आदि के उपसर्गों को समभाव से सहता हूँ। (12) मैं श्मशान

में प्रतिमा अंगीकार करके भूत, पिशाच आदि के भयंकर दृश्यों को देखकर भी विचलित नहीं होता हूँ और विविध प्रकार के तपाराधन में शरीर की चिन्ता नहीं करता हूँ। (13) मैं अपने शरीर के ममत्व को भी छोड़ देता हूँ, बार-बार धमकाये जाने पर, मारे जाने पर या घायल हो जाने पर भी शान्त रहता हूँ तथा निदान या कौतूहल के बिना पृथ्वी के समान सभी कष्टों को समभावपूर्वक सहता हूँ। (14) मैं अपने शरीर से परीषहों को जीतकर अपनी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र से निकालता हूँ, जन्म-मरण को महाभय समझकर तप और संयम में लीन रहता हूँ। (15) मैं अपने हाथ, पैर, वचन और इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखता हूँ, सदा आत्म-चिन्तन करता हुआ समाधि में लीन रहता हूँ एवं यथार्थ को अच्छी तरह से जानता हूँ। (16) मैं भंडोपकरण आदि उपधि में किसी प्रकार की मूर्छा या गृद्धि नहीं रखता हूँ, अज्ञात कुल की गोचरी करता हूँ। चारित्र्य का घात करनेवाले दोषों से अलग रहता हूँ। मैं क्रय, विक्रय या सन्निधि से दूर रहता हूँ और सभी प्रकार के संगों से अलग रहता हूँ। (17) मैं चंचलता रहित होता हूँ, रसों में गृद्ध नहीं होता हूँ, जीवित रहने की भी अभिलाषा नहीं रखता हूँ तथा ज्ञान आदि गुणों में आत्मा को स्थिर करके निश्चल वृत्ति से ऋद्धि, सत्कार, पूजा आदि की इच्छा नहीं रखता हूँ। (18) मैं दूसरे को अपशब्द नहीं कहता या ऐसी भी कोई बात नहीं कहता, जिससे उसे क्रोध आये और पुण्य व पाप के स्वरूप को जानकर मैं अपने को बड़ा नहीं मानता। (19) मैं जाति, रूप, लाभ व श्रुत का मद नहीं करता और सभी मद त्यागकर धर्मध्यान में लीन रहता हूँ। (20) मैं वीतराग देवों के सिद्धान्तों का सुपाठक हूँ तथा धर्म का शुद्ध उपदेश देता हूँ, स्वयं धर्म में स्थिर रहकर दूसरों को स्थिर करता हूँ एवं दीक्षित होकर कुशील, आरंभ आदि छोड़कर निन्दनीय परिहास या कुचेष्टाएँ नहीं करता हूँ। (21) मैं भावना भाता हूँ कि उपरोक्त गुण-सम्पन्नता प्राप्त करते हुए मैं इस अपवित्र और नश्वर देहवास को छोड़कर मोक्षरूपी हित में अपने को स्थिर करके जन्म मरण के बंधन को तोड़ दूँ तथा ऐसी गति में जाऊँ, जहाँ से वापस आगमन न हो अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लूँ।

मैं सर्वविरति साधु के रूप में तीन मनोरथों का चिन्तन करता

हूँ कि (1) कब वह शुभ समय आयेगा, जब मैं अल्प या अधिक शास्त्र-ज्ञान सीखूँगा (2) कब वह शुभ समय आयेगा, जब मैं एकल विहारी भिक्षु प्रतिमा (भिक्षू पड़िमा) अंगीकार कर विचरूँगा तथा (3) कब वह शुभ समय आयेगा, जब मैं अन्त समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्यागकर, पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन-मरण की इच्छा नहीं करता हुआ विचरूँगा।

मैं अपने अभिग्रह विशेष रूप भिक्षु प्रतिमाएँ अंगीकार करूँगा। ये प्रतिमाएँ बारह हैं, जिनमें सात प्रतिमाएँ तो एक से लेकर सात मास तक की जाती हैं तथा आठवीं से दसवीं प्रतिमा सात दिवस-रात्रि तक, ग्यारहवीं एक अहोरात्रि तक एवं बारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि तक की होती है। बारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं-पहली प्रतिमा में एक दत्ति अन्न और एक दत्ति पानी लेना कल्पता है। एक अखंड धारा को एक दत्ति कहते हैं। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो, वहीं से भिक्षा लेनी चाहिए। याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी, पुट्ट वागरणी, आदि चार प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए, तीन प्रकार के स्थान पर ठहरना चाहिए तथा विहार के कष्ट सहने चाहिए। एक माह की इसकी अवधि है। तदनन्तर दूसरी से लेकर सातवीं प्रतिमा तक पहली प्रतिमा के सभी नियमों का पालन करते हुए प्रतिमा के क्रमानुसार दो से लेकर सात दत्ति अन्न व पानी ग्रहण किया जाता है। फिर आठवीं प्रतिमा में एकान्तर चौविहार उपवास किया जाता है तथा ध्यान में कायक्लेश सहित समय व्यतीत किया जाता है। नवमी प्रतिमा में चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है एवं दंडासन, लकुड़ासन और उत्कटासन से ध्यान किया जाता है। दसवीं प्रतिमा में चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है तथा गोदोहनासन, वीरासन व आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमा में, जो अहोरात्रि की होती है, चौविहार बेला किया जाता है और दोनों पैरों को कुछ संकुचित कर हाथों को घुटना तक लम्बा करके कायोत्सर्ग किया जाता है। एक रात्रि की बारहवीं प्रतिमा में चौविहार तेले के साथ अनिमेष नेत्रों से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है।

मैं समता रूप सामायिक को धारण करनेवाला श्रमण हूँ अतः (1) सर्प के समान अपना घर नहीं बनाता और एक ही जगह नहीं ठहरता, (2) पर्वत के समान परीषह—उपसर्गों से कम्पित नहीं होता और अनुकूलता—प्रतिकूलता को समभाव से सहते हुए संयम में दृढ़ रहता हूँ, (3) अग्नि के समान ज्ञान और सूत्राभ्यास से तृप्त नहीं होता तथा तप रूपी तेज से प्रदीप्त होता हूँ, (4) सागर के समान मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता और छोटी—छोटी बातों से कुपित नहीं होते हुए ज्ञान—गंभीर बनकर रहता हूँ, (5) आकाश के समान किसी के भी आलंबन से रहित निरावलम्बी होकर ग्राम—नगर आदि में यथेच्छा विहार करता हूँ, (6) वृक्ष के समान समभावपूर्वक कष्टों को सहता हूँ तथा धर्मोपदेश के द्वारा प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बतलाता हूँ—अपमान—सम्मान में समभाव रखता हूँ, (7) भ्रमर के समान एक—एक घर से थोड़ा—थोड़ा आहार ग्रहण करता हूँ, ताकि किसी को कष्ट न हो, (8) हरिण के समान पाप—कार्यों से सदा डरता हूँ और पाप स्थानों पर एक क्षण के लिए भी नहीं ठहरता हूँ, (9) पृथ्वी के समान सभी कष्टों को समभाव से सहता हूँ तथा अपने अपकारी—उपकारी, निन्दक—प्रशंसक सबको समान रूप से उपदेश देता हूँ, (10) कमल के समान शरीर की उत्पत्ति काम—भोगों से होने पर भी उसे काम—भोगों में लिप्त नहीं होने देता हूँ और उनसे उसे दूर रखता हूँ, (11) सूर्य के समान नवतत्वों का स्वयं ज्ञाता बनकर धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों के अज्ञानान्धकार को दूर करता हूँ तथा (12) वायु के समान अपनी इच्छानुसार सभी दिशाओं में अप्रतिबद्ध विहार करता हूँ और जन—जन को कल्याण का मार्ग बताता हूँ।

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूँ—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सतत आराधना करता हूँ, क्योंकि यही मोक्ष का मार्ग है तथा मोक्ष प्राप्ति ही मेरा साध्य है। मुनि पद ही मूल पद है, जो उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहंत के भी होता है और सिद्ध भी मुनि पद से ही हुआ जाता है।

मैं ज्ञान साधक उपाध्याय हूँ

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि होता हूँ, तभी ज्ञान साधक उपाध्याय हो सकता हूँ, क्योंकि गच्छ, गण या संघ की सुव्यवस्था के लिए योग्य

साधुओं को विशेष अधिकार युक्त पदवी दी जाती है। सामान्य रूप से इस प्रकार की सात पदवियाँ निश्चित की गयी हैं—(1) आचार्य, (2) उपाध्याय, (3) प्रवर्तक—आचार्य के आदेश से वैयावृत्य आदि धर्म-कार्यों में साधुओं को ठीक तरह से प्रवृत्ति करानेवाले, (4) स्थविर—संवर से गिरते हुए या दुःखी होते हुए साधुओं को स्थिर करनेवाले तथा दीक्षा, वय, शास्त्रज्ञान में वृद्ध, (5) गणी—कुछ साधुओं के समूह रूप एक गच्छ के स्वामी—शास्ता, (6) गणधर—आचार्य की आज्ञा में रहते हुए गुरु के कथनानुसार कुछ साधुओं को लेकर अलग विचरनेवाले गण के धारक तथा (7) गणावच्छेदक—गण की सारी व्यवस्था तथा कार्यों का ध्यान रखनेवाले। यों तीन से लेकर सात तक की पदवियाँ आचार्य के अधीन होती हैं। अतः इनका उस पद में समावेश मान लिया जाता है। उपाध्याय का पद यद्यपि आचार्य के अनुशासन में ही होता है, तथापि अपने कार्य की गरिमा के कारण पाँच पदों में एक वन्दनीय पद माना गया है।

मैं ज्ञानसाधक उपाध्याय हूँ। मैं शास्त्र और धर्म साहित्य स्वयं पढ़ता हूँ तथा जिज्ञासा—सम्पन्न साधुओं को पढ़ाता हूँ। ज्ञानार्जन तथा अध्ययन—अध्यापन मेरा पुनीत कर्तव्य है। मैं शिष्यों को सूत्रों का अर्थ सिखाता हूँ तथा सर्वज्ञ—भाषित एवं परम्परा से गणधर आदि द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंगों तथा बारह उपांगों का अध्ययन कराता हूँ। मेरे उपाध्याय पद के साथ पच्चीस गुणों की सम्पन्नता होनी आवश्यक मानी गयी है। धारण किये जानेवाले ये पच्चीस गुण इस प्रकार हैं—

ग्यारह अंग

- | | |
|--------------------------|---------------------------|
| (1) आचारांग सूत्र | (2) सूत्रकृतांग सूत्र |
| (3) स्थानांग सूत्र | (4) समवायांग सूत्र |
| (5) भगवती सूत्र | (6) ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र |
| (7) उपासकदशांग सूत्र | (8) अन्त कृदशांग सूत्र |
| (9) अनुत्तरोपपातिक सूत्र | (10) प्रश्न व्याकरण सूत्र |
| (11) विपाक सूत्र। | |

बारह उपांग

- | | |
|---------------------------------|-----------------------------|
| (1) औपपातिक सूत्र | (2) राजप्रश्नीय सूत्र |
| (3) जीवाभिगम सूत्र | (4) प्रज्ञापना सूत्र |
| (5) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र | (6) चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र |
| (7) सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र | (8) निरयावलिका सूत्र |
| (9) कल्पवतंसक सूत्र | (10) पुष्फिया सूत्र |
| (11) पुष्पचूलिका सूत्र | (12) वह्निदशा सूत्र |

ग्यारह अंगों तथा बारह उपांगों के ज्ञान रूप गुणों के सिवाय चौबीसवाँ गुण है— चरणसप्तति अर्थात् सदाकाल जिन सत्तर बोलों का आचरण किया जाता है, वे चरणसत्तरी कहलाते हैं, जो इस प्रकार हैं—पाँच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्रह संयम, दस वैयावृत्य, नव ब्रह्मचर्य गुप्ति, रत्नत्रय, बारह तप तथा चार कषाय निग्रह। पच्चीसवाँ गुण कहा गया है— करणसप्तति अर्थात् प्रयोजन उपस्थित होने पर जिन सत्तर बोलों का आचरण किया जाता है, वे करणसत्तरी कहलाते हैं, जो इस प्रकार हैं—चार पिंड विशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पाँच इन्द्रिय निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति तथा चार अभिग्रह।

ज्ञान साधना की दृष्टि से ये पच्चीस गुण ज्ञान के महासागर हैं, जिसमें उपाध्याय के पद पर रहते हुए निरन्तर डुबकियाँ लगाता हूँ और ज्ञानार्जन के अमूल्य मोती एकत्रित करता हूँ तथा साधर्मी साधुओं की भव्य आत्माओं को उनसे अलंकृत बनाता हूँ। मेरा यह क्षेत्र ऐसा है, जिसमें विचरण करते हुए मुझे असीम आत्मानन्द का अनुभव होता है और यह पूर्ण स्वाभाविक है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है और उस ज्ञान की गहराई में उतरने का जब मेरी आत्मा को ऐसा सुअवसर प्राप्त है तो असीम आनन्द की अनुभूति पूर्णतः स्वाभाविक है। मेरा सम्पूर्ण संसार सम्यक् ज्ञान का संसार है, जिसमें मैं अहर्निश रमण करता हूँ और ज्ञान के मर्म की शोध करता हूँ। यह शोध ही वस्तुतः सत्य की शोध होती है।

संघ व्यवस्था की दृष्टि से भी मेरे पद के आचार्य पद के साथ कई प्रकार के कर्तव्य (जिनका विवरण आचार्य पद के विश्लेषण के साथ दिया गया है) निर्धारित हैं, जिनका सम्यक् निर्वाह भी मैं करने में यत्नरत रहता हूँ।

मेरे उपाध्याय पद का विशिष्ट महत्व है, तभी तो उसे महामंत्र में स्थान दिया गया है। पाँच पदों के इस सर्वश्रेष्ठ महामंत्र में मेरा पद चौथे स्थान पर है—आचार्य के पद के पश्चात् ही उसका क्रम है। लोक में विद्यमान सर्व-साधुओं को नमस्कार करने के बाद उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। यह नमस्कार महामंत्र गुणाधारित है, व्यक्तिपरक नहीं। उस दृष्टि से उपाध्याय को नमस्कार करते हुए किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार किया जाता है, किन्तु उन सभी महापुरुषों को समुच्चय रूप से नमस्कार किया जाता है, जो उपाध्याय पद के धारक हैं तथा इस पद के पच्चीस गुणों से विभूषित हैं। अतः मेरी स्पष्ट मान्यता है कि मुझे उपाध्याय पद से किया जानेवाला नमस्कार मुझे नहीं, अपितु मेरे द्वारा अर्जित गुणों को है। इस दृष्टि से मेरी विनम्रता और अधिक बढ़ जानी चाहिए, वरना यदि मैं ही अपने गुणों में हीनता प्राप्त करता हूँ, तो मैं अपने पद का अधिकारी ही नहीं रहता हूँ। मैं ज्ञानसाधक उपाध्याय हूँ और ज्ञानसाधना में तल्लीन बने रहना चाहता हूँ।

मैं अनुशासक आचार्य हूँ

मैं अनुशासक आचार्य हूँ—संघ का अनुशासन मेरा दायित्व है। मैं पाँच प्रकार के आचार का स्वयं कठिनता से निष्ठापूर्वक पालन करता हूँ तथा संघ के सभी साधुओं से उस आचार का उसी रीति से पालन करवाने की चेष्टा में रत रहता हूँ। चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग तथा गणितानुयोग रूप चारों अनुयोगों के ज्ञान को मैं धारण करता हूँ एवं चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका) के संचालन में अपना सामर्थ्य नियोजित रखता हूँ। मैं स्वयं आचार्य पद की अभिलाषा नहीं करता हूँ, किन्तु मेरे आचार्य गुरु जब मेरे जीवन में वैसी योग्यता का सद्भाव देखते हैं और मुझे इस पद के

लिए मनोनीत करते हैं, तब मेरा परम कर्तव्य हो जाता है कि मैं उनके द्वारा तथा चतुर्विध संघ की पूर्ण सहमति के आधार पर अपने मनोनयन के बाद संघ की संचालन-व्यवस्था में अपने दायित्व का पूर्ण नम्रता एवं निष्ठा से निर्वाह करूँ।

यों आचार्य तीन प्रकार के माने गये हैं—शिल्पाचार्य, कलाचार्य तथा धर्माचार्य, किन्तु मैं धर्माचार्य के रूप में दायित्वधारी होता हूँ। धर्माचार्य स्वयं श्रुतधर्म का पालन करनेवाला, दूसरों को उसका उपदेश देनेवाला संघ का नायक होता है और उसकी सेवा पारलौकिक हित-कर्मनिर्जरा आदि के लिए की जाती है। वीतराग देवों ने आचार्य पद में तीन प्रकार की ऋद्धि का निर्देश दिया है—(1) ज्ञानऋद्धि—विशिष्ट श्रुत की सम्पदा, (2) दर्शनऋद्धि—आगमों में शंकारहित होकर प्रवचन की प्रभावनावाले शास्त्रों का ज्ञान एवं (3) चारित्रऋद्धि—अतिचार—रहित शुद्ध तथा उत्कृष्ट चारित्र का पालन। इसी दृष्टि से यह भी निर्देशित किया गया है कि धर्माचार्य की पूर्ण विनय-भक्ति की जाये, जो इस प्रकार हो—धर्माचार्य को देखते ही उन्हें वन्दना—नमस्कार करना, सत्कार—सम्मान देना यावत् उनकी उपासना करना, प्रासुक—ऐषणीय आहार—पानी का प्रतिलाभ देना एवं पीढ़, फल, शय्या, संधारे के लिए निमंत्रण देना। तदनुसार आचार्य के भी छः कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं—(1) सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना और सूत्र एवं अर्थ में चतुर्विध संघ को स्थिर करना। (2) विनय—सबके साथ विनम्रता का व्यवहार करना। (3) गुरुपूजा—अपने से दीक्षावृद्ध यानि स्थविर साधुओं की भक्ति करना। (4) शैक्षबहुमान—शिक्षा—ग्रहण करनेवाले तथा नवदीक्षित साधुओं का सत्कार करना। (5) दानपति श्रद्धावृद्धि—दान देने में दाता की श्रद्धा में अभिवृद्धि करना एवं (6) बुद्धिबलवर्धन—अपने शिष्यों की विवेक—बुद्धि एवं आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना।

आचार्य पद में छत्तीसगुणों के सद्भाव का उल्लेख है। आठ सम्पदाएँ तथा प्रत्येक के चार—चार भेद होने से बत्तीस एवं विनय के चार भेद मिलाने से कुल छत्तीस गुण होते हैं। अन्य अपेक्षा से

ज्ञानाचार, दर्शनाचार एवं चारित्राचार के प्रत्येक के आठ-आठ भेद होने से चौबीस तथा बारह तप मिलाकर छत्तीस गुण बताये गये हैं। एक अन्य अपेक्षा से आठ सम्पदा, दस स्थिति कल्प, बारह तप और छः आवश्यक- कुल छत्तीस गुण कहे गये हैं। आचार्य की आठ सम्पदाएँ इस प्रकार मानी गयी हैं—(1) आचार सम्पदा—चारित्र की दृढ़ता का सद्भाव। इसके चार भेद हैं — (अ) संयमी—क्रियाओं में ध्रुवयोग युक्त होना, (ब) गर्वरहित होकर सदा विनीत भाव से रहना, (स) अप्रतिबद्ध विहार करते रहना व (द) गंभीर विचार एवं दृढ़ स्वभाव रखना। अल्प उम्र हो, तब भी गुरु गंभीर रहना। (2) श्रुत सम्पदा—श्रुत ज्ञान रूप शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान। इसके भी चार भेद हैं—(अ) बहुश्रुत अर्थात् शास्त्र ज्ञानी, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के दृष्टा तथा प्रचार में समर्थ, (ब) परिचित श्रुत अर्थात् शास्त्रों की पूर्ण स्मृति, उच्चारण शुद्धि तथा स्वाध्याय का अभ्यास, (स) विचित्र श्रुत—अपने और दूसरे मतों को जानकर शास्त्रों का तुलनात्मक ज्ञान, सोदाहरण मनोहर व्याख्यान और श्रोताओं पर प्रभाव व (द) घोषविशुद्धि श्रुत—शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, त्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वर—व्यंजनों पर पूरा ध्यान हो। (3) शरीर सम्पदा—देह का प्रभावशाली एवं सुसंगठित होना। इसके भी चार भेद हैं—(अ) आरोहपरिणाह सम्पन्न—शरीर की लम्बाई—चौड़ाई—मोटाई सुडौल हो और प्रभावपूर्ण हो, (ब) विकलांग, अधूरा या बेडौल अंग न हो, (स) स्थिर संहनन—शरीर का संगठन स्थिर हो—ढीलाढाला न हो एवं (द) प्रतिपूर्णेन्द्रिय—सभी इन्द्रियाँ पूर्ण हो, सदोष न हो। (4) वचन सम्पदा—मधुर, प्रभावी एवं आदेय वचनों की सम्पन्नता। इसके भी चार भेद हैं—(अ) आदेय वचन—जनता द्वारा ग्रहण करने योग्य, (ब) मधुर वचन—मीठे वचन हों, कर्णकटु नहीं, (स) अनिश्चित वचन—कषाय के वशीभूत होकर वचन नहीं निकलें, शान्त भाव से बोले व (द) असंदिग्ध वचन—आशय स्पष्ट हो, श्रोताओं में किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न न हो। (5) वाचना सम्पदा—शिष्यों को शास्त्र पढ़ाने की योग्यता। इसके भी चार भेद हैं—(अ) विचयोद्देश—किस शिष्य को कौनसा शास्त्र किस समय पढ़ाना चाहिए—इसका ठीक निर्देश कर सके, (ब) विचय वाचना—शिष्य की

योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना, (स) शिष्य की ग्रहण योग्य बुद्धि देखकर उसे पढ़ाना, तथा (द) अर्थ निर्यापकृत्व—अर्थ की संगति करते हुए पढ़ाना। यह संगति प्रमाण, नय, कारक, समास, विभक्ति आदि के साथ हो। पूर्वापर संबंध के साथ अर्थ विन्यास किया जाये। (6) मति सम्पदा—मतिज्ञान की उत्कृष्टता। इसके भी चार भेद हैं—(अ) अवग्रह, (ब) ईहा, (स) अवाय व (द) धारणा। (7) प्रयोगमति सम्पदा—अवसर का ज्ञाता हो कि शास्त्रार्थ या विवाद किस समय किया जाये। इसके भी चार भेद हैं—(अ) अपनी शक्ति को पहले तौल ले, (ब) सभा को समझकर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हो, (स) क्षेत्र को समझकर उपसर्ग आदि का अनुमान लगाले व (द) शास्त्रार्थ के विषय को भली प्रकार समझ ले। (8) संग्रहपरिज्ञा सम्पदा—वर्षावास आदि के लिए मकान, पाटला, वस्त्रादि का ध्यान रखकर आचार के अनुसार संग्रह करना। इसके भी चार भेद हैं—(अ) मुनियों के लिए योग्य स्थान देखना, (ब) पीठ, फलक, शय्या, संधारे वगैरह का ध्यान रखना, (स) समय के अनुसार सभी आचारों का पालन करना तथा कराना एवं (द) अपने से बड़ों का विनय करना। प्रवचन सारोद्धार के टीकाकरण के अनुसार आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार भी गिनाये गये हैं—(1) देशयुत—साढ़े पच्चीस आर्य देशों में जन्म लेनेवाला व आर्य भाषा जाननेवाला, (2) कुलयुत—पितृ-पक्ष से उत्तम कुल में उत्पन्न, (3) जातियुत— मातृपक्ष से उच्च जाति में उत्पन्न, (4) रूपयुत—स्वरूपवान, गुणवान तथा आदेय—वचन—युक्त, (5) संहनन—युत—विशिष्ट शारीरिक—सामर्थ्य—युक्त, (6) धृतियुत—विशिष्ट मानसिक स्थिरता एवं धैर्य का धारक, (7) अनाशंसी—श्रोताओं को खरी बात सुनानेवाला निस्पृही, (8) अविकल्थन—आत्मश्लाघा नहीं करनेवाला मितभाषी, (9) अमायी—अशठ और सरल परिणामी, (10) स्थिर परिपाटी—निरन्तर अभ्यास से अनुयोग—क्रम को स्थिर कर लेनेवाला तथा व्याख्यान में स्खलित नहीं होनेवाला, (11) गृहीत वाक्य—उपादेय वचन के साथ सारगर्भित बोलनेवाला, (12) जितपर्षत्—परिषदा को वश में करने में कुशल, (13) जितनिद्र—निद्रा को जीतनेवाला, थोड़ा सोने व अधिक चिन्तन—मनन करनेवाला, (14) मध्यस्थ—सभी शिष्यों के प्रति समभाव तथा सभी का समान पूज्य, (15–17) देश, काल और भाव का

ज्ञाता (18) आसन्नलब्ध प्रतिभ-समयानुकूल तत्काल बुद्धि की उत्पत्ति, जिससे अन्यतीर्थी प्रभावित हों तथा शासन की महती प्रभावना हो, (19) नानाविध देश-भाषज्ञ-अनेक देशों की भाषाओं का ज्ञाता, (20-24) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य-इन पाँच आचारों का उत्साह व उपयोगपूर्वक पालन करनेवाला, (25) सूत्रार्थ तदुभय विधिज्ञ-सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम का ज्ञाता-व्याख्याता, (26-29) आहारण हेतु उपनय निपुण-आहारण अर्थात् दृष्टान्त, हेतु, उपनय और नय में कुशल, (30) ग्राहणा कुशल-दूसरों को समझाने की कला में कुशल, (31, 32) स्व-पर समय वेदी-अपने व अन्यतीर्थियों के सिद्धान्तों का जानकार, खंडन-मंडन में सिद्धहस्त, (33) गंभीर-तुच्छ व्यवहार के अभाव में गौरव का रक्षक, (34) दीप्तमान-तेजस्वी प्रभाव सहित, (35) शिव -कोप न करनेवाला लोक कल्याणी एवं (36) सोम-सौम्य एवं शान्त दृष्टिवाला ।

आचार्य पाँच प्रकार के कहे गये हैं-(1) प्रवाजकाचार्य-सामायिक आदि व्रत का आरोपण करानेवाले, (2) दिगाचार्य-सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु की अनुमति देनेवाले, (3) उद्देशाचार्य-सर्वप्रथम श्रुत का कथन करनेवाले या मूल पाठ सिखानेवाले (4) समुद्देशानुज्ञाचार्य-श्रुत की वाचना देनेवाले तथा गुरु के न होने पर श्रुत को स्थिर-परिचित करने की अनुमति देनेवाले एवं (5) आम्नायार्थ वाचकाचार्य-उत्सर्ग-अपवाद रूप आम्नाय अर्थ को कहनेवाले ।

आचार्य और उपाध्याय में शेष साधुओं की अपेक्षा पाँच अतिशय अधिक माने गये हैं ।-(1) उत्सर्ग रूप से सभी साधु जब बाहर से आते हैं, तो उपाश्रय में प्रवेश करने से पहिले बाहर ही पैरों को पूँजते और झटकाते हैं, किन्तु आचार्य-उपाध्याय बाहर से लौटकर उपाश्रय के बाहर ही खड़े रहते हैं और दूसरे साधु उनके पैरों का प्रमार्जन व प्रस्फोटन करते हैं । बाहर न ठहरकर भीतर भी आ जाते हैं, तो उनके पैरों को पूँजने व झटकाने की सेवा दूसरे साधु करते हैं । यह उनका अतिशय माना गया है । इससे उनके साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं होता । (2) आचार्य व उपाध्याय का उपाश्रय में लघुनीत, बड़ीनीति का अवसर देखना या पैर आदि में लगी हुई अशुचि को हटाने में साधु के

आचार का अतिक्रमण नहीं होता। (3) आचार्य व उपाध्याय इच्छा हो, तो दूसरे साधुओं की वैयावृत्य करते हैं और इच्छा नहीं हो, तो नहीं भी करते हैं। (4) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय में एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते। (5) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते।

आचार्य और उपाध्याय सात बातों का ध्यान रखने से ज्ञान अथवा शिष्यों का संग्रह कर सकते हैं। इनसे संघ में व्यवस्था भी कायम रह सकती है, तो दूसरे साधुओं को अपने अनुकूल व नियमानुसार भी चला सकते हैं। वे सात बातें या संग्रह इस प्रकार हैं—(1) आचार्य और उपाध्याय को आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करना चाहिए। किसी काम के लिए विधान करने को आज्ञा कहते हैं और किसी बात से रोकने को धारणा। इस तरह के नियोग (आज्ञा) और नियंत्रण (धारणा) के अनुचित होने पर साधु आपस में अथवा आचार्य के साथ कलह करने लगते हैं, जिससे व्यवस्था टूटनी शुरू हो जाती है। उसे भी आज्ञा कहते हैं, जब देशान्तर में रहा हुआ गीतार्थ साधु अपने अतिचार को गीतार्थ आचार्य से निवेदन करने के लिए अगीतार्थ साधु को सामने जो कुछ गूढार्थ पदों में कहता है। उसे भी धारणा कहते हैं, जब अपराध की बार-बार आलोचना के बाद जो प्रायश्चित विशेष का निश्चय किया जाता है। इन दोनों का प्रयोग यथारीति से किया जाना चाहिए, ताकि संघ में एकता और दृढ़ता बनी रहे। (2) आचार्य और उपाध्याय को रत्नाधिक की वन्दना आदि का सम्यक् प्रयोग कराना चाहिए। दीक्षा के बाद ज्ञान, दर्शन और चारित्र में बड़ा साधु छोटे साधु द्वारा वन्दनीय समझा जाता है। यदि कोई छोटा साधु रत्नाधिक को वन्दना न करे, तो आचार्य और उपाध्याय का कर्तव्य है कि वे उसे वन्दना के लिए प्रवृत्त करें। वन्दना व्यवहार के लोप होने से व्यवस्था के टूटने की आशंका रहती है। (3) आचार्य और उपाध्याय हमेशा ध्यान रखे कि शिष्यों में जिस समय सूत्र के पढ़ने की योग्यता हो अथवा दीक्षा के बाद जब जो सूत्र पढ़ाया जाना चाहिए, यथासमय यथायोग्य सूत्र शिष्यों को पढ़ाया जाये। यह तीसरा संग्रह स्थान है।

(4) आचार्य और उपाध्याय को बीमार, तपस्वी तथा विद्याध्ययन करनेवाले साधुओं की वैयावृत्य का समुचित प्रबन्ध करना चाहिए। (5) आचार्य और उपाध्याय को दूसरे साधुओं से पूछकर कोई भी काम करना चाहिए, मनमाने ढंग से नहीं। शिष्यों से अपने दैनिक कृत्यों के लिए भी पूछते रहना चाहिए। (6) आचार्य तथा उपाध्याय को अप्राप्त आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति के लिए सम्यक् प्रकार से व्यवस्था करनी चाहिए। साधुओं के लिए आवश्यक वस्तुओं की निर्दोष प्राप्ति का यत्न इस कारण आवश्यक है कि उनमें अकारण अंसतोष न फैले। (7) आचार्य और उपाध्याय को पूर्व-प्राप्त उपकरणों की रक्षा का भी ध्यान रखना चाहिए। उन्हें ऐसे स्थान पर नहीं रखने देना चाहिए कि जिससे वे खराब हों या चोर आदि ले जायें। यह सातवाँ और अन्तिम संग्रह स्थान है।

स्वयं आचार्य या उपाध्याय भी पाँच प्रकार के कारण उपस्थित होने पर संघ का परित्याग कर सकते हैं। ये कारण हैं—(1) संघ या गच्छ में साधुओं के दुर्विनीत हो जाने पर जब 'इस प्रकार प्रवृत्ति करो और इस प्रकार न करो' इत्यादि प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप आज्ञा, धारणा आदि न प्रवर्ता सकें। (2) रत्नाधिक साधुओं की यथायोग्य अथवा साधुओं में छोटों से बड़े साधुओं की जब विनय-भक्ति नहीं करा सकें। (3) जो सूत्रों के अध्ययन, उद्देश आदि धारण किये हुए हैं, वे आचार्य और उपाध्याय उनकी यथावसर वाचना न दे, जिससे दोनों ओर की अयोग्यता प्रकट होवे। वाचना के प्रति इस असावधानी में दोनों ही तथ्य जिम्मेदार हो सकते हैं कि या तो वाचना लेनेवाले साधु अविनीत हों या आचार्य और उपाध्याय ही सुखासक्त और मन्दबुद्धि हों अथवा दोनों ही बातें हों। (4) एक संघ में रहे हुए आचार्य या उपाध्याय अपने या दूसरे संघ की साध्वी में मोहवश आसक्त हो जायें। (5) आचार्य या उपाध्याय के मित्र या ज्ञाति के लोग किसी कारण से उन्हें संघ से निकाल दें। उन लोगों की बात स्वीकारकर उनकी वस्त्रादि से सहायता करने के लिए आचार्य और उपाध्याय संघ से निकल जाते हैं।

इस सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य का पद कितने महत्व एवं मूल्य का होता है? तीर्थकर तीर्थों की रचना

करते हैं तथा उनकी सुव्यवस्था बनाते हैं, तो जिस समय में तीर्थंकर नहीं विराजते हैं, उस समय आचार्य का भी मोटे तौर पर वैसा ही दायित्व होता है। आचार्य संघ की रचना नहीं करते, किन्तु वे अपनी दूरदर्शिता एवं कुशलता से चतुर्विध संघ का संचालन इस रूप में कर सकते हैं कि संघ की एकता और सुदृढ़ता व्यवस्थित बने तथा सिद्धान्तनिष्ठ संस्कृति की सुरक्षा हो। आचार्य का संघ-नायकत्व इस दृष्टि से अति पूज्य होता है।

मैं अनुशासक आचार्य हूँ यानि कि मैं हो सकता हूँ। मुझमें क्षमता है, किन्तु अपने अथक पुरुषार्थ से उसे प्रकटानी है। जब मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बनाकर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन सिद्ध हो सकता हूँ, तो भला साधु, उपाध्याय और आचार्य क्यों नहीं सकता हूँ ? तब वीतरागी अरिहंत भी तो हो सकता हूँ। मेरी आत्मा में और सभी भव्य आत्माओं में मूल रूप में ऐसा उच्चतम विकास साध लेने की शक्ति रही हुई है। वह वर्तमान में आवृत है, किन्तु उसे अनावृत करने का सामर्थ्य भी इसी आत्मा में रहा हुआ है। यथायोग्य सामर्थ्य नियोजित होगा, तो उसका यथायोग्य परिणाम भी प्रकट हो सकेगा।

मैं वीतरागी अरिहंत हूँ

मैं वीतरागी अरिहंत हूँ। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार सर्वघाती कर्म-शत्रुओं का नाश कर देने पर अरिहन्त पद प्राप्त होता है। तब वीतरागपना भी प्राप्त हो जाता है। चार घनघाती कर्मों का नाश कर देने पर आत्मा अरिहन्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है। सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों का अरिहन्तपद में समावेश हो जाता है। अरिहन्तावस्था में चार मूलातिशय प्रकट होते हैं, जो इस प्रकार हैं—(1) अपायापगमातिशय—अट्टारह दोष एवं विघ्न-बाधाओं का सर्वथा नाश हो जाना अपाय का अपगम है, जो एक अतिशय है। (2) ज्ञानातिशय—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न त्रिकाल एवं त्रिलोक के समस्त द्रव्य एवं पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना तथा सम्पूर्ण अव्याबाध अप्रतिपाती ज्ञान को धारण करना। (3) पूजातिशय—अरिहन्त तीन लोक की समस्त आत्माओं के लिए पूज्य

हैं तथा इन्द्रकृत अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप पूजा से पूजित हैं। त्रिलोक पूज्यता एवं इन्द्रादिकृत पूजा ही पूजातिशय है। इनके चौतीस अतिशय भी पूजा रूप ही हैं। (4) वागतिशय—अरहन्त राग—द्वेष से परे होते हैं तथा पूर्ण ज्ञान के धारक होते हैं। अतः उनके वचन सत्य एवं परस्पर बाधा रहित होते हैं। वाणी की यह विशेषता ही वचनातिशय है।

अरिहन्त के बारह गुण ये होते हैं—(1) अनाश्रव, (2) अमम, (3) अकिंचन्य, (4) छिन्नशोक, (5) निरुपक्षेप, (6) व्यपगतराग—द्वेष—मोह, (7) निर्ग्रन्थ प्रवचनोपदेशकत्व, (8) शास्त्रनायक, (9) अनन्तज्ञानी, (10) अनन्तदर्शनी, (11) अनन्त चरित्री व (12) अनन्त वीर्य सम्पन्न।

अरिहन्त देव बारह गुण सहित होते हैं, तो इन अठारह दोषों से रहित भी होते हैं—(1) दानान्तराय, (2) लाभान्तराय, (3) वीर्यान्तराय, (4) भोगान्तराय, (5) उपभोगान्तराय, (6) मिथ्यात्व, (7) अज्ञान, (8) अविरति, (9) काम (भोगेच्छा), (10) हास्य, (11) रति, (12) अरति, (13) शोक, (14) भय, (15) जुगुप्सा, (16) राग, (17) द्वेष तथा (18) निद्रा। ये अठारह दोष एक अन्य अपेक्षा से इस प्रकार भी गिनाये गये हैं—(1) हिंसा, (2) मृषावाद, (3) अदत्तादान, (4) क्रीड़ा, (5) हास्य, (6) रति, (7) अरति, (8) शोक, (9) भय, (10) क्रोध, (11) मान, (12) माया, (13) लोभ, (14) मद, (15) मत्सर, (16) अज्ञान, (17) निद्रा तथा (18) राग (प्रेम)।

मैं अरिहन्त देव हूँ— वीतरागी, सर्वथा पाप एवं दोष रहित। मेरा अरिहन्त पद इस लोक में मंगल रूप, उत्तम तथा शरण रूप माना गया है। मैं मंगल रूप इस कारण हूँ कि मैंने समस्त आत्माओं के मंगल का मार्ग प्रशस्त बना दिया है। उत्तम रूप इस कारण कि जीवन—विकास का इससे अधिक उत्तम स्वरूप दूसरा नहीं हो सकता तथा शरण रूप इस कारण कि कोई भी सांसारिक आत्मा इस पद की शरण में आकर अपने स्वरूप को अशरण बना सकती है। मैंने चार घनघाती रूप कर्मों का नाश कर दिया है और मेरी आत्मा सिद्ध गति के योग्य बन गयी है। मुझे पूजा की कोई अभिलाषा नहीं है, किन्तु देव और इन्द्र मेरे जीवन को पूजा का स्थल इसलिए बनाते हैं कि भव्य आत्माएँ प्रभावित होकर अपने उत्थान का मार्ग सरलता से खोज लें और अपने विकास

की महायात्रा पर अविलम्ब प्रस्थान कर दें। मैं केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन से सम्पन्न बनकर तीनों कालों तथा तीनों लोकों के सभी द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को स्पष्ट देखता हूँ तथा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को सब पर प्रकट करता हूँ जिससे मिथ्यात्व का अंधकार दूर हो तथा चहुं ओर सम्यक्त्व का देदीप्यमान प्रकाश प्रसारित हो जाये—समतामय वातावरण बन जाये।

मैं वीतरागी अरिहंत हूँ—मेरा द्वेष भी नष्ट हो गया है, तो राग भी व्यतीत हो गया है। मैं समतादर्शी हो गया हूँ—सम्पूर्ण संसार को समभाव से जानता हूँ और समदृष्टि से देखता हूँ—सभी आत्माएँ मेरे लिए समान हो गयी हैं। इसी दृष्टि से मैं उपदेश देता हूँ, जो सबके लिए समान रूप से हितकारी होते हैं। इसीलिए मेरी लोकोत्तमता है।

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हूँ

मैं अरिहंत पद में शेष रहे चारों अघाती कर्मों का भी नाश कर देता हूँ और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हूँ। ज्यों ही मैं सर्व कर्मों का क्षय कर देता हूँ कि मैं जन्म—मरण रूप इस संसार से मुक्त हो जाता हूँ। मेरी आत्मा कृतकृत्य हो जाती है और लोक के अग्र—भाग पर सिद्ध—शिला से ऊपर सदा काल के लिए अरुण ज्योति रूप बनकर अवस्थित हो जाती है। मैं मुक्तात्मा हो जाता हूँ और पुनः इस संसार में किसी भी रूप में किसी भी प्रयोजन से प्रत्यावृत्त नहीं होता हूँ, अपितु किसी भी प्रकार से इस संसार से सम्बन्धित भी नहीं रहता हूँ। मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हूँ।

सिद्ध पद के ये पन्द्रह प्रकार माने गये हैं—(1) तीर्थ सिद्ध—जीव—अजीव आदि तत्त्वों की प्ररूपणा करनेवाले तीर्थकरों के वचन और उन वचनों को धारण करनेवाला चतुर्विध संघ तीर्थ कहलाता है अथवा यो कहें कि जिससे संसार रूपी समुद्र को तैर कर पार कर लिया जाये, वह तीर्थ है। इस प्रकार के तीर्थ की विद्यमानता में जो आत्माएँ सिद्ध होती हैं, वे तीर्थसिद्ध कहलाती हैं। (2) अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहिले या तीर्थ का विच्छेद हो जाने पर बीच में जो आत्माएँ सिद्ध होती हैं, वे अतीर्थ सिद्ध कहलाती हैं। जैसे ऋषभदेव

तीर्थकर की माता मरुदेवी तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहले ही मोक्षगामिनी बन गयी थीं। (3) तीर्थकर सिद्ध—तीर्थकर पद प्राप्त करके मोक्ष में जानेवाली आत्माएँ तीर्थकरसिद्ध होती हैं। (4) अतीर्थकर सिद्ध—सामान्य रूप से केवल ज्ञान प्राप्त करके जो आत्माएँ मोक्ष प्राप्त करती हैं, वे अतीर्थकर सिद्ध कहलाती हैं। (5) स्वयंबुद्ध सिद्ध—दूसरे के उपदेश के बिना स्वयमेव बोध प्राप्त करके सिद्ध हो जानेवाली आत्माएँ स्वयंबुद्ध सिद्ध होती हैं। (6) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध—जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देखकर दीक्षा धारण करके मोक्षगामी बन जाती हैं, वे आत्माएँ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध हो जाती हैं। स्वयंबुद्ध एवं प्रत्येकबुद्ध सिद्धों में समानता होते हुए भी कुछ पारस्परिक विशेषताएँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं—(अ) बोधिकृत विशेषता—स्वयंबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जातिस्मरण (पूर्वभव दर्शन) आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वयंबुद्ध भी दो प्रकार के होते हैं—तीर्थकर और तीर्थकर व्यतिरिक्त (प्रत्येकबुद्ध सिद्ध)। प्रत्येकबुद्ध को किसी भी बाहरी कारण के निमित्त से वैराग्य उत्पन्न होता है। जैसे बैल, बादल आदि को देखकर। प्रत्येकबुद्ध दीक्षा लेकर अकेले ही विचरण करते हैं। (ब) उपधिकृत विशेषता—स्वयंबुद्ध वस्त्र, पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि(उपकरण)वाले होते हैं और प्रत्येकबुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधिवाले होते हैं। वे वस्त्र नहीं रखते, किन्तु मुखवस्त्रिका व रजोहरण तो रखते ही हैं। (स—द) श्रुतकृत विशेषता तथा लिंग (वेश) कृत विशेषता—स्वयंबुद्ध दो तरह के होते हैं—(1) जिन को पूर्वजन्म का ज्ञान इस जन्म में हो जाता है व (2) जिनको पूर्वजन्म का ज्ञान इस जन्म में नहीं होता। पहले प्रकार के स्वयंबुद्ध लिंग धारण करके नियमपूर्वक संघ (गच्छ) में रहते हैं और दूसरी प्रकार के गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते हैं, जो उन्हें देवता लाकर देते हैं, किन्तु यदि उनकी अकेले विचरने की क्षमता और इच्छा हो, तो वे अकेले विचर सकते हैं। प्रत्येकबुद्ध को पूर्वजन्म का ज्ञान इस जन्म में अवश्यमेव होता है, जो जघन्य ग्यारह अंग और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हें लिंग (वेश) देते हैं अथवा वे लिंग—रहित भी होते हैं। (7) बुद्धबोधित

सिद्ध-आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त करके मोक्ष जानेवाले बुद्धबोधित सिद्ध कहलाते हैं। (8) स्त्रीलिंग सिद्ध-स्त्री-जीवन से सिद्ध होनेवाली आत्माएँ स्त्रीलिंग सिद्ध कहलाती हैं। स्त्रीत्व तीन प्रकार का बतलाया गया है-(अ) वेद (ब) शरीराकृति और (स) वेश। यहाँ शरीराकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है, क्योंकि वेद (स्त्री) के उदय में तो कोई आत्मा सिद्ध हो ही नहीं सकती है और वेश अप्रमाण है। अतः यहाँ शरीराकृति-स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। (9) पुरुष लिंगसिद्ध-पुरुष की शरीराकृति में रहते हुए मोक्ष में जानेवाली आत्माएँ पुरुषलिंग सिद्ध होती हैं। (10) नपुंसकलिंग सिद्ध-नपुंसक की शरीराकृति में रहते हुए मोक्ष जानेवाले नपुंसकलिंग सिद्ध हैं। (11) स्वलिंग सिद्ध-निर्ग्रथ साधु का वेश स्ववेश (स्वलिंग) होता है। अतः साधु के वेश में रहते हुए मोक्ष जानेवाले स्वलिंग सिद्ध कहलाते हैं। (12) अन्यलिंग सिद्ध-परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिंग (अन्य वेश) में रहकर मोक्ष में जानेवाली आत्माएँ अन्यलिंग सिद्ध कहलाती हैं। (13) गृहस्थलिंग सिद्ध-गृहस्थ के वेश में मोक्ष जानेवाली आत्माएँ गृहस्थलिंग (गृहीलिंग) सिद्ध कहलाती हैं। (14) एक सिद्ध-एक-एक समय में एक-एक करके मोक्ष जानेवाली आत्माएँ एक सिद्ध होती हैं तथा (15) अनेक सिद्ध-एक समय में एक से अधिक मोक्ष जानेवाली आत्माएँ अनेक सिद्ध कहलाती हैं। एक समय में अधिक से अधिक कितनी आत्माएँ मोक्ष में जा सकती हैं-इसके विषय में विस्तार से बताया गया है। संक्षेप में एक समय से आठ समय तक अधिकतम बत्तीस तक आत्माएँ मोक्ष में जा सकती हैं। फिर निश्चित रूप से अन्तर पड़ता है।

मैं अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हूँ, तो कर्मों के दुष्प्रभाव से जो आत्मिक शक्तियाँ दबी हुई रहती थीं, वे सम्पूर्ण प्राभाविक बनाकर पूर्णतः प्रकट हो जाती हैं। कर्म-मुक्ति से सिद्ध पद में निम्न आठ गुण पूर्ण आत्म-विकास के रूप में प्रकाशित हो जाते हैं—(1) केवल ज्ञान-ज्ञानावरणीय कर्म का पूरी तरह नाश हो जाने से आत्मा का ज्ञान गुण अपनी पूर्ण आभा के साथ प्रकट हो जाता है, जिसके प्रभाव से केवल ज्ञानी महात्मा सकल पदार्थों को जानने

लगती हैं। (2) केवल दर्शन-दर्शनावरणीय कर्म के समूल नाश से आत्मा का दर्शन गुण पूर्णतया प्रकट हो जाता है जिससे सभी पदार्थों को देखने की शक्ति अनावृत हो जाती है। (3) अव्याबाध सुख-आत्मा वेदनीय कर्म के प्रभाव से वेदना का अनुभव करती है, यद्यपि साता वेदनीय कर्म से सुख का अनुभव भी होता है, किन्तु वह सुख क्षणिक, नश्वर, भौतिक और काल्पनिक होता है, जबकि वास्तविक एवं स्थायी आत्मिक सुख की प्राप्ति वेदनीय कर्म के नाश से ही होती है। इस कर्म के सम्पूर्ण विनाश से जो अनन्त सुख प्राप्त होता है, वह अव्याबाध होता है, क्योंकि उस सुख के अनुभव में कभी भी कोई बाधा नहीं आती है। (4) अक्षय स्थिति-आत्मा की इसी स्थिति को अक्षय स्थिति कहते हैं कि मोक्ष में पहुँचकर आत्मा वापस इस संसार में नहीं आती, शाश्वत रूप से वहीं रहती है। संसार में आयु-कर्म का प्रभाव चलता है, इस कारण एक जन्म में जितना आयुष्य बंधा हुआ होता है, उसे भोगकर आत्मा को वहाँ से दूसरी गति में जाना ही पड़ता है, किन्तु सिद्धात्माओं का आयु-कर्म ही नष्ट हो जाता है। अतः मोक्ष में स्थिति की कोई मर्यादा नहीं रहती। अतः मोक्ष की स्थिति ही अक्षय स्थिति मानी गयी है। (5) क्षायिक सम्यक्त्व-सिद्धात्माओं के मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, जबकि मोहनीय कर्म ही सम्यक्त्व गुण का घातक होता है। सम्यक्त्व का अर्थ है-जीव-अजीव आदि पदार्थों को उनके यथार्थ रूप में जानना तथा जानकर उन पर विश्वास करना। अतः मोहनीय कर्म के अभाव में पूर्ण सम्यक्त्व का सद्भाव हो जाता है तथा पूर्ण सम्यक्त्व ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। सिद्धात्माओं में यही क्षायिक सम्यक्त्व सदा वर्तता है। (6) अरूपित्व-बाहर से दिखायी देनेवाले रूप की रचना नामकर्म से शरीर रूप में होती है और दृष्टिगत रूप ही रूपीपना कहलाता है। चूंकि सिद्धात्माओं के नामकर्म का भी नाश हो जाता है। अतः उनके किसी प्रकार का शरीर नहीं रहता। संसारी जीवों के कार्मण आदि शरीरों का सम्मिश्रण हमेशा रहता है, जिस अपेक्षा से संसारी आत्मा रूपी भी कहलाती है, किन्तु नामकर्म के अभाव में सिद्धात्माओं में कोई भी शरीर नहीं रहता, इसलिए उनका स्वरूप अरूपी ही रहता है। (7) अगुरुलघुत्व-अरूपी होने से सिद्धात्मा

न भारी होती है, न हल्की। वह निरंजन होती है। अतः अगुरुलघु होती है। (8) अनन्त शक्ति—मूल रूप में आत्मा में जिस अनन्त शक्ति या बल का सद्भाव रहता है, वह सिद्धावस्था में सम्पूर्णतः प्रकट हो जाता है। अन्तराय कर्म के कारण आवृत बनी समस्त शक्तियाँ उस कर्म के नष्ट हो जाने पर पूरी स्पष्टता से अनावृत हो जाती हैं। सिद्धात्मा में अनन्त शक्ति व्यक्त बन जाती है।

मैं सिद्ध होता हूँ, आठों कर्मों का समूल विनाश कर देने से—तो उस अपेक्षा से मेरे पद में इकतीस गुणों का उल्लेख भी किया गया है, क्योंकि आठों कर्मों की विदृष्टि से कुल प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच, दर्शनावरणीय कर्म की नौ, वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय की दो, अन्तराय कर्म की चार, नाम कर्म की दो, गोत्र कर्म की दो तथा अन्तराय कर्म की पाँच मिलाकर इकतीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन्हीं इकतीस प्रकृतियों के क्षय हो जाने से सिद्धात्माओं में ये इकतीस गुण प्रकट होते हैं—(1) क्षीण आभिनिबोधिक ज्ञानावरण, (2) क्षीण श्रुत ज्ञानावरण, (3) क्षीण अवधि ज्ञानावरण, (4) क्षीण मनःपर्यय ज्ञानावरण, (5) क्षीण केवल ज्ञानावरण, (6) क्षीण चक्षुदर्शनावरण, (7) क्षीण अचक्षु दर्शनावरण, (8) क्षीण अवधिदर्शनावरण, (9) क्षीण केवल दर्शनावरण, (10) क्षीणनिद्रा, (11) क्षीण निद्रा—निद्रा, (12) क्षीण प्रचला, (13) क्षीण प्रचला—प्रचला, (14) क्षीण स्त्यानगृद्धि, (15) क्षीण सातावेदनीय, (16) क्षीण असातावेदनीय, (17) क्षीण दर्शन मोहनीय, (18) क्षीण चारित्र मोहनीय, (19) क्षीण नैरयिकायु, (20) क्षीण तिर्यचायु, (21) क्षीण मनुष्यायु, (22) क्षीण देवायु, (23) क्षीण उच्च गौत्र, (24) क्षीण नीच गौत्र, (25) क्षीण शुभ नाम, (26) क्षीण अशुभ नाम, (27) क्षीण दानान्तराय, (28) क्षीण लाभान्तराय, (29) क्षीण भोगान्तराय, (30) क्षीण उपभोगान्तराय तथा (31) क्षीण वीर्यान्तराय।

सिद्ध पद के गुण इस प्रकार भी बतलाये गये हैं कि सिद्धात्मा पाँच संस्थान, पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद तथा काय, संग एवं रुह (पुनरुत्पत्ति) को क्षय कर देती है, जिनके क्षय से प्रकट होनेवाले गुण भी इकतीस होते हैं। जैसे बीज के जल जाने पर अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने से सिद्ध आत्माओं के संसार रूपी अंकुर पैदा नहीं होता।

जब मैं अपने को सिद्ध कहता हूँ, तो मैं अपनी ही आत्मा के मूल स्वरूप का वर्णन करता हूँ। मेरी आत्मा भी सिद्धात्मा जैसी ही है, क्योंकि जो आत्मा होती है, वही सिद्ध होती है। आत्मा और सिद्धात्मा के बीच मात्र आठों कर्मों के आवरण होते हैं, जो जब सम्पूर्णतः नष्ट कर दिये जाते हैं, तब आत्मा अपने मूल स्वरूप को तथा अपने गुणों को प्राप्त करके स्व-स्वभाव में अथवा स्वधर्म में अवस्थित हो जाती है। स्वधर्म स्थित आत्मा की सिद्धात्मा होती है। अतः सिद्धात्मा के स्वरूप के अनुसार ही मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी होता है। इसीलिए मैं कहता और मानता हूँ कि अपने मूल स्वरूप में मैं न दीर्घ हूँ, न ह्रस्व, न वृत्त हूँ, न त्रिकोण, न चतुष्कोण और मैं मंडलाकार भी नहीं हूँ। मैं न काला हूँ, न हरा हूँ, न लाल, न पीला और न सफेद हूँ। मैं न सुगंध रूप हूँ, न दुर्गंध रूप। मैं न तीखा, न कड़वा, न कषैला, न खट्टा व न मीठा हूँ, तो मैं न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का, न ठंडा, न गर्म, न चिकना और न रूखा हूँ। मैं न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ तथा न ही नपुंसक हूँ। मैं सर्वसंग-रहित अमूर्त हूँ। मैं ज्ञाता हूँ, विज्ञाता हूँ और अनन्त ज्ञान, दर्शन तथा अनन्त सुखों से सम्पन्न हूँ। मैं अरूपी हूँ। अतः मेरे स्वरूप का वर्णन रूपी शब्दों द्वारा संभव नहीं है।

ऐसा है मेरी आत्मा का मूल स्वरूप और ऐसा ही होता है सिद्धात्माओं का सदाकाल वर्तता हुआ स्वरूप, जो रूपी न होकर अरूपी होता है। वे अनन्त सुखों में विराजमान रहते हैं। उनके ज्ञान और सुख के लिए कोई उपमा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके साथ उनके ज्ञान और सुख की उपमा घटित हो सके। उनका स्वरूप अरूपी होता है, उसका वर्णन रूपी शब्दों के माध्यम से नहीं किया जा सकता है।

मैं अनश्वर ओऽम् हूँ

मैं अनश्वर ओऽम् हूँ। ओऽम् शब्द पाँच अक्षरों से बना है—अ, अ, आ, उ, तथा म् और ये पाँचों अक्षर महान आध्यात्मिक पदों के प्रतीक हैं, जो इस प्रकार हैं—अ=अरिहंत, अ=अशरीरी (सिद्ध), आ=आचार्य, उ=उपाध्याय एवं म्=मुनि (साधु)। इन अक्षरों की संधि इस प्रकार

है—अ + अ=आ, आ + आ=आ तथा आ+ओ=ओ तथा ओ+म्=ओम् । इस प्रकार ओंकार पाँचों पदों का प्रतीक—संक्षेप हो गया । ओंकार से कुछ बड़ा पद होता है—असिआउसा, जो पाँचों पदों के प्रथमाक्षर से मिल कर बना है ।

मैं अपनी आत्मा के मूल स्वरूप की दृष्टि से पंच परमेष्ठी हूँ । ये ही पाँचों पद पंच परमेष्ठी के नाम से उल्लिखित किये जाते हैं । ये पद पाँच अवश्य हैं, किन्तु हैं सभी पद इसी आत्मा के । अपने परम स्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट आध्यात्मिक स्वरूप में अवस्थित आत्मा को ही परमेष्ठी कहा जाता है । ये पाँचों पद आत्मा की ही विभिन्न गुण—अवस्थाएँ हैं । इन गुण—अवस्थाओं के उल्लेख का क्रम इस प्रकार रखा गया है—सबसे पहले अरिहन्त । यद्यपि इस क्रम में सिद्ध पद का पहले उल्लेख होना चाहिए, क्योंकि अरिहन्त चारों घाती कर्मों का ही नाश करते हैं, जब कि सिद्ध आठों कर्मों का नाश करके सर्वथा कर्म—मुक्त हो जाते हैं । किन्तु सिद्ध पद को दूसरे क्रम पर इस दृष्टि से रखा गया है कि स्वयं सिद्ध—अवस्था का ज्ञान भी अरिहन्त के द्वारा ही होता है तथा आत्मोद्धार का सम्पूर्ण उपदेश भी अरिहन्त के द्वारा ही मिलता है । अतः पहले क्रम पर अरिहन्त तथा दूसरे क्रम पर सिद्ध पद को रखा गया है । तीसरा पद आचार्य का है व चौथा उपाध्याय का । पाँचवाँ पद सर्वविरति साधु का है । इस प्रकार इन पाँचों पदों को वन्दनीय माना गया है तथा इस वन्दन को महामंत्र की संज्ञा दी गयी, जो इस प्रकार है—अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक में स्थित सर्व—साधुओं को नमस्कार । यह महामंत्र का मुख्यभाग है तथा इसी के अन्तिम भाग में इन नमस्कारों की महत्ता स्पष्ट की गयी है, जो इन शब्दों में है—ये पाँचों नमस्कार सर्व पापों को नष्ट करनेवाले हैं, सर्व मंगलों के प्रथम मंगल रूप होते हैं ।

इसी महामंत्र का संक्षिप्त रूप है—असिआउसा नमः ऐसा कहा जाता है, पर महामन्त्र के साधक को तो नमस्कार मन्त्र के पाँच पदों का पूरा उच्चारण करना चाहिए, क्योंकि जिनेश्वरों ने जैसा कहा, मन्त्र को उसी रूप से बोलना चाहिए तथा अति संक्षिप्त रूप है—ओम् नमः ।

इन पाँचों आध्यात्मिक पदों को अथवा आत्मोत्थान की इन पाँच उत्कृष्ट अवस्थाओं को नमस्कार करना परम मंगल, परम उत्तम तथा परम शरण रूप माना गया है। ऐसा क्यों है? यह विषय-वस्तु गहराई से समझने लायक है। यह अटल नियम है कि गुण गुणी के बिना नहीं टिकता तथा गुणी के माध्यम से ही गुण प्रकाशित होता है, किन्तु गुण और गुणी के भेद में किसको श्रेष्ठतर माना जाये? जैसे क्षमा एक गुण है। इसके स्वरूप का विवेचन करते समय गुण के सभी पहलुओं पर विचार करेंगे तथा इसके सर्वोत्कृष्ट विकास का भी प्रतिमान लेंगे, क्योंकि इसी प्रतिमान के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकेगा कि किस व्यक्ति में यह क्षमा गुण कितने अंशों में विकसित हुआ है? सामान्य रूप से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में मूल्यांकन करने पर इस क्षमा-गुण का विकास भिन्न-भिन्न स्तरों का मिलेगा। अतः गुण का विकास भिन्न-भिन्न गुणियों में भिन्न-भिन्न रूप से परिलक्षित होता है। गुणी का सम्मान या उसकी मान्यता इस दृष्टि से गुण-विकास पर आधारित रहती है।

गुण और गुणी में इस प्रकार गुण की प्रमुखता मानी जानी चाहिए, क्योंकि गुण का सर्व-स्वरूप गुणी के समक्ष आदर्श रूप होता है और गुणी की सर्वोत्कृष्ट सफलता तभी मानी जाती है, जब वह गुण के उस आदर्श रूप को आत्मसात करले। गुण को प्रमुखता देने से गुण-गौरव तथा गुण-ग्राहकता में वृद्धि होती रहती है। आध्यात्मिक उन्नति के उपरोक्त पाँचों प्रतीक भी गुणवाचक हैं और गुणों को सर्वोच्च सम्मान देने की दृष्टि से ही नमस्कार महामंत्र को सर्वोच्च महिमा प्रदान की गयी है।

गुणवत्ता की कसौटी पर ही पाँचों पदों का विश्लेषण इस सत्य को स्पष्ट कर देता है कि आत्मा किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं करती है। इस रूप में विशिष्ट से विशिष्ट हो, किन्तु व्यक्ति की प्रभुता आत्मानुभूति को दबा नहीं पाती है। गुण-दृष्टि ही बनी रहती है, जिससे गुण ग्रहण करने की प्रेरणा भी बनी रहती है। दूसरे शब्दों में कहें, तो आत्मा स्वयं को ही नमस्कार करती है-अपनी ही इच्छित अथवा संभावित अवस्थाओं को नमस्कार करती है कि वे अवस्थाएँ उसके निज स्वरूप में उद्घाटित हों।

गुण दृष्टि को प्रधानता देने में एक और तथ्य या सत्य उभरकर समक्ष उपस्थित होता है और वह यह कि यह आत्मा और मात्र आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट विकास की मूल है—कोई और कैसा भी व्यक्तित्व इस की प्रमुखता को आच्छादित नहीं कर सकता है। कई बार और कई स्थानों पर देखा जाता है कि व्यक्ति का वर्चस्व बढ़ता जाता है और उस वर्चस्व से प्रभावित व्यक्ति अपने महत्व को खोते हुए चले जाते हैं। कई बार राजनीति के क्षेत्र में भी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति का वर्चस्व सर्व-प्रमुख हो जाता है और उसके शासन या दल के अन्य सदस्य उसके सामने अपना महत्व—यहाँ तक कि प्रभावपूर्ण अस्तित्व तक खो देते हैं। कहा जाता है कि बरगद के पेड़ की छाया में कोई दूसरा पौधा नहीं पनपता। व्यक्तिवादी वर्चस्व की ऐसी ही विदशा को समझकर वीतराग देवों ने सम्पूर्ण संघ-व्यवस्था को गुणाधारित स्वरूप प्रदान किया। गुण की ही महिमा, गुण की ही स्तुति और गुण को ही नमस्कार और इसी श्रेष्ठता के उच्चतम स्वरूप में पाँचों पद भी गुण विकास के क्रम पर आधारित हैं। गुणी कोई भी हो, वह वन्दनीय है। विकासशील आत्मा उस गुण का सम्यक् रीति से अनुपालन कर सके। उसके समक्ष गुणी का व्यक्तित्व कम और गुण-स्वरूप की श्रेष्ठता अधिकांश में रहनी चाहिए।

संसार में रहते हुए गुण-विकास के श्रेष्ठ प्रतीक होते हैं—अरिहन्त। यह अरिहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, आत्मिक अवस्था विशेष का नाम है कि जिन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय रूप चार घनघाती कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन को प्रकट कर लिया है तथा जो राग द्वेष को जीतकर वीतराग व अन्तराय रूप बाधा को जीतकर अनन्त वीर्यवन्त हो गये हैं। वे महापुरुष अरिहन्त होते हैं—अपने भीतर के अरियों—शत्रुओं को जिन्होंने नष्ट कर दिया है। उनकी आत्मा तब सिद्धि के योग्य हो जाती है तथा अपने पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में वे संसार की सभी आत्माओं को आत्म-विकास का मार्ग दिखाते हैं। दूसरा सिद्ध पद भी गुणवत्ता पर आधारित है कि वे संसार के भव-चक्र को समाप्त करके मुक्तात्मा बन जाते हैं। तीर्थकर की विद्यमानता न होने पर संघ-संचालन का

भार आचार्य उठाते हैं, अतः उनका तीसरा पद है। ज्ञान-साधना और ज्ञान-दान का महत्वपूर्ण कार्य करनेवालों का चौथा उपाध्याय का पद है, तो पाँचवाँ पद संसार त्याग करके सर्वविरति एवं निर्ग्रन्थ बननेवाले साधु का है, जो अपना सम्पूर्ण जीवन महाव्रतों के पूर्ण पालन के साथ स्व-पर कल्याण में नियोजित कर देता है। नमस्कार योग्य पद साधु अवस्था से ही प्रारंभ होता है और सामान्यतया साधु, उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहन्त के चार पद साधु जीवन से ही सम्बन्धित होते हैं और साध्याचार की उत्कृष्टता ही दिखाते हैं। सिद्ध अवस्था भी एक दृष्टि से श्रेष्ठ साधु जीवन की उच्चतम श्रेष्ठता की ही उपसंहार रूप होती है। यह समग्र क्रम आत्मा के गुण-विकास का ही क्रम है। आत्मा किस नामधारी व्यक्ति के शरीर में अवस्थित है—इससे उन आत्मिक गुणों तथा उनकी प्राप्ति को विशेष महत्व दिया गया है, जिनका विकास आत्मा को अपनी उन्नति के विभिन्न चरणों में ऊर्ध्वगामी बनाता है। आत्मा को ऐसी निरन्तर गतिशील ऊर्ध्वगामिता प्राप्त हो—यही परम लक्ष्य है, क्योंकि इसी का चरम बिन्दु मोक्ष प्राप्ति के रूप में प्रतिफलित होता है।

सदसद् संग्राम

यह सब मैंने एक अपेक्षा से कहा है कि मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूँ, ज्ञानसाधक उपाध्याय हूँ, अनुशासक आचार्य हूँ, वीतरागी अरिहन्त हूँ, अथवा शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध या अनश्वर ओऽम् हूँ, क्योंकि ऐसा कहने और विचारने में 'सोऽहम्' की अनुभूति होती है तथा विकासोन्मुख आत्मा अपने परम व चरम साध्य का निर्धारण करती है।

किन्तु इन उच्च पदों की उपलब्धियाँ मुझे प्राप्त हो सकेंगी, एक संग्राम जीत लेने के बाद। यह संग्राम है अपनी ही आत्मा की असद् वृत्ति तथा प्रवृत्तियों का अपनी ही आत्मा की सद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के बीच में और यह आत्मा ही योद्धा है। इसे सदसद् संग्राम कह सकते हैं। आठ कर्मों के रूप में असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सेना एक ओर खड़ी है और दूसरी ओर सद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सेना, जो एक-दूसरे के साथ लड़ रही है तथा इस लड़ाई की

प्रयोजक है स्वयं आत्मा, मन और उसकी इन्द्रियाँ। आत्मा की सुप्तावस्था और जागृतावस्था का तारतम्य ही इस संग्राम में हार और जीत का निर्णय करनेवाला है। यदि सुप्तावस्था घटती है और आत्म-जागृति अभिवृद्ध होती जाती है, तो यों समझिये कि असद् वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ मिटती जाती हैं और उनके स्थान पर सद् वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ आत्मा का सुरक्षा कवच बना लेती है, जिस पर फिर असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का बलप्रयोग व्यर्थ हो जाता है। एक-एक करके असद् वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ पराजय का मुख देखती हुई नष्ट होती जाती हैं। तब इस संग्राम में आत्मा की सद् वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ विजय की ओर अग्रसर बन जाती हैं।

यह सदसद् संग्राम आत्मा की आन्तरिकता में प्रतिपल चल रहा है—एक पल के लिए भी वह रुकता नहीं है। असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सेना में मिथ्यात्व और मोहनीय बहुत जोरदार होते हैं। आत्मा के ये शत्रु ऐसा मारक प्रहार करते हैं कि आत्मा तिलमिला उठती है—उसके मन और उसकी इन्द्रियों में बेचैनी और बेहोशी फैल जाती है। इसलिए इन दोनों शत्रुओं के प्रति आत्मा की पूरी सावधानी होनी चाहिए। आत्मा के पास इन दोनों शत्रुओं को परास्त कर देने के लिए रत्नत्रय का सुदर्शन चक्र है। सम्यक्त्व के जगमगाते प्रकाश के सामने मिथ्यात्व का अधेरा टिक नहीं सकता है और ज्यों ही सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है, इस आत्मा के समक्ष सदसद् संग्राम का पूरा दृश्य अति स्पष्ट हो जाता है और उसका सुदर्शन चक्र भी सक्रिय बन जाता है। वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र की पूर्णता के साथ जब मोहनीय कर्म पर प्रहार करती है, तो अष्ट कर्म का यह सेनापति बौखला उठता है। वह बार-बार आत्मा पर अपने प्रहार करता है, किन्तु बार-बार आत्मा का सुदर्शन चक्र मोहनीय कर्म को नीचे पटकता रहता है, तब एक ही झटके में उसका शिरच्छेद कर देता है। मोहनीय कर्म के विनाश के साथ ही आत्मा की शक्ति अनन्त गुणा बढ़ जाती है, उसका सम्यक् चारित्र सर्वविरति साधु-आचार के रूप में उत्कृष्टता के नये-नये सोपानों पर आरूढ़ होता रहता है। रत्न-त्रय की साधना श्रेष्ठतर होती जाती है और शेष कर्म शत्रु भी

नष्ट होते चले जाते हैं। तब वह शुभ दिवस और समय भी आता है, जब पहले चारों घाती कर्म पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा का वीतराग भाव जगमगा उठता है। फिर उसके लिए शेष संग्राम विशेष पुरुषार्थ साध्य नहीं रहता। चारों अघाती कर्मों का नाश करके वह सिद्ध गति की ओर प्रयाण कर देती है और इस प्रकार सदसद् संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर लेती है। तब आत्मा स्व-भाव तथा स्व-धर्म में अवस्थित होकर विजेता बन जाती है।

वर्तमान परिस्थितियों में जबकि मेरे सामने सद वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों तथा असद् प्रवृत्तियों की चतुरंगिणी सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं और ज्ञाता-विज्ञाता एवं जागृत दृष्टा बना मैं इस दृश्य को देखता हूँ, तो मुझे दृढ़ निश्चय करना होता है कि इस संग्राम में चाहे जो हो, मुझे अपनी अन्तिम विजय प्राप्त करनी ही है। सारी रणस्थली में मैं ही योद्धा हूँ-मुझे ही लड़ना है अपनी असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से, अपनी सद वृत्तियों की सहायता लेकर। यह ऐसा समय है, जब मैं कई बार अर्जुन की तरह घबराता हूँ कि मैं कैसे लड़ सकूँगा-उन मनोज्ञ विषयों के विरुद्ध, जिनसे मेरा मन और मेरी इन्द्रियाँ सुखाभास लेती रही हैं? कैसे लड़ सकूँगा-मैं अपने ही विद्रोही मन और इन्द्रियों से, जो मनोज्ञ शब्द, दृश्य, गंध, रस और स्पर्श के घेरों में बार-बार दौड़े हुए चले जाते हैं? किन्तु मेरी आत्मा तब श्रीकृष्ण बन जायेगी और अर्जुन की नपुंसकता को दूर करेगी, उसमें योद्धा भाव को जगायेगी और उसे अपने रत्न-त्रय का सुदर्शन चक्र चलाने के लिए उत्साहरत बना देगी। यह सब कुछ मेरी ही आत्मा को करना होगा। आत्मा ही सोने लगेगी, तो आत्मा ही अपने को जगायेगी। आत्मा ही आत्मा से लड़ेगी और आत्मा ही आत्मा को समझायेगी। अन्ततोगत्वा यह आत्मा ही अपने द्वन्द्वों को समाप्त करेगी और विजेता बनकर अपने उत्थान के ऊँचे से ऊँचे आयामों को अवाप्त करेगी।

अन्तिम विजय मेरी होगी

मेरी यह निश्चित धारणा बन चुकी है कि इस सदसद् संग्राम में अन्तिम विजय मेरी ही होगी। मैं दृढ़ चेता होकर अपने नये कर्म

बंधन को रोकूँगा, पूर्वार्जित कर्मों को तपस्या की अग्नि में भस्म कर दूँगा और अपने आत्म-स्वरूप को कुन्दन बना लूँगा। गुणस्थानों के सोपान रूपी कसौटियों पर आत्मा की शुद्धता की जाँच मैं हर समय करता रहूँगा और ऊर्ध्वगामी बना रहूँगा। मैं अपने दृढ़ संकल्प के बल पर रत्न-त्रय की कठिनतर साधना करता रहूँगा और नीचे नहीं गिरूँगा। मेरी आत्मा क्रमशः पदोन्नति करती रहेगी और कर्मों के साथ निरन्तर युद्ध करती हुई अन्तिम विजय के सर्वोच्च छोर तक पहुँचकर ही चैन लेगी। यही मेरी आत्म-विकास की महायात्रा का सानन्द समापन होगा, जहाँ फिर मेरी आत्मा आनन्द की अजस्र धारा में ही सदा-सदा के लिए आह्लादित बनी रहेगी।

मेरी अन्तिम विजय के प्रेरक ये आप्त वचन हैं और मैं उनका निरन्तर चिन्तन करता हूँ कि जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही मैं भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को क्यों त्यागूँ? जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृन्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी संपूर्ण रूप से मेरी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुनः मेरी वीतरागी आत्मा के साथ नहीं लग सकते हैं। जो अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है, वह शुद्ध भाव को प्राप्त करता है, क्योंकि इस सम्यक् अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मेरी आत्मा भी अन्तिम विजय की ओर स्वस्थ तथा स्थिर गति से आगे बढ़ती ही जायेगी।

मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी अपनी आत्मा ही ज्ञान रूप है, दर्शन रूप है और चारित्र्य रूप है। शास्त्र स्वयं ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र स्वयं में कुछ नहीं जानता है। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है। जो ज्ञान है, वह मैं हूँ और मैं ही शास्त्रों के स्रोत से ज्ञानार्जन करता हूँ। चारित्र्य ही वास्तव में धर्म है, क्योंकि वहीं मेरी आत्मा को उसके धर्म में प्रतिष्ठित करता है और जो धर्म है, वही समत्व है। मोह और लोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है। अतः आत्मा ही धर्म है अर्थात् धर्म आत्म-स्वरूप होता है। समत्व से विभूषित आत्मा सुख-दुःख में समान भाव रखती है और तब वह वीतरागी और शुद्धोपयोग हो जाती है। आत्मा ज्ञान प्रमाण (ज्ञान जितनी) है, ज्ञान

ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक प्रमाण है, जिससे ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है। यही आत्मा का सर्वव्यापी स्वरूप है।

मैं जब अपने इस अनुभव में विराट होता हूँ, तो अपने आत्म-स्वरूप को वैसा ही विराट बना लेने का दृढ़ निश्चयी भी बन जाता हूँ। यही दृढ़ निश्चय मेरे आत्म-विकास की महायात्रा का सबल संगी होता है तथा उस के सफल समापन का श्रेयी भी। मेरी दृढ़ता ही मुझे सदसद संग्राम में विजेता बनाती है, तो वही मेरी अन्तिम विजय की प्रतीक बनती है।

नवम सूत्र और मेरा संकल्प

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध व निरंजन हूँ। मैंने अनुभव कर लिया है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है तथा जान लिया है कि मैं उसे कैसे प्राप्त करूँ? यह सारी विधि वीतराग देव बता चुके हैं तथा उनकी चेतावनियों पर भी मैं निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहता हूँ कि जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़ जाते हैं और भूमि पर झड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरा यह जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जायेगा, अतएव मैं क्षण-भर के लिए भी प्रमाद न करूँ। जैसे कुशा (घास) की नोक पर हिलती हुई ओस की बूँद बहुत थोड़े समय के लिए टिक पाती है, ठीक वैसा ही मेरा यह जीवन भी क्षणभंगुर है। अतएव मैं क्षण-भर के लिए भी प्रमाद न करूँ। मेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पककर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है। अतएव मैं क्षण-भर के लिए भी प्रमाद न करूँ। मैं इस संसार रूपी महासमुद्र को तैर चुका हूँ, फिर किनारे पर आकर क्यों बैठ गया हूँ? मैं उस पार पहुँचने की शीघ्रता करूँ। समय बड़ा भयंकर है और इधर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतएव मैं सदा अप्रमत्त होकर भारंड पक्षी (सतत सतर्क रहनेवाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करूँ। मैं सोये हुआ के बीच में भी सदा जागृत रहूँ और सदा अप्रमत्त बनूँ। सकल इच्छाओं का निरोध करके अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसंधान करूँ, क्योंकि सत्य ही संसार में सारभूत है।

अतः इस नवम सूत्र के संदर्भ में मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं निरन्तर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करूँगा, गुणाधारित धर्म का पालन करूँगा तथा ज्ञानी व ध्यानी बनूँगा। ऐसा करके मैं अपने कर्मों के आवरण को उसी प्रकार उतार फेंकूँगा, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को उतारकर छोड़ देता है। मुझे यह मंत्र शीघ्र आत्म-विजेता बनने में सहायता करेगा कि जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह भी तू ही है और जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह भी तू ही है। जिसे जाना जाता है, वह आत्मा है तथा जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है। यह प्रतीति मेरी अन्तिम विजय की मूल भित्ति है। इसी भित्ति पर मैं अपने गुणाधारित जीवन का निर्माण करता हूँ और अपने मूल आत्म-स्वरूप को समाहित करने की दिशा में अग्रसर होता हूँ।

तदनन्तर गुण-विकास की क्रमिकता में समुन्नत होता हुआ, मनोरथों एवं नियमों का चिन्तन करता हुआ और उत्कृष्ट भाव-श्रेणियों में विचरण करता हुआ मैं अपने मूल स्वरूप के आलोक को प्राप्त कर लूँगा और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध बन जाऊँगा।



अध्याय ग्यारह
आत्म-समीक्षण के नव सूत्र
समता की जययात्रा

*अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे,
पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदंसी।*

हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार
का निर्णय कर तथा उसका छेदन करके कर्मों से
रहित अवस्था अर्थात् समता का द्रष्टा बन जा।

अध्याय ग्यारह

समता जीवन विकास का मूलमंत्र तथा जीवन का चरम साध्य है। आत्म-समीक्षण से लेकर समता-अवाप्ति तक की जय-यात्रा ही जीवन की जय-यात्रा है। समीक्षण का अर्थ है— समान रूप से देखना और आत्म-समीक्षण का अर्थ होता है— अपनी आत्मा को समान रूप से देखना तथा यही समान रूप से देखना होता है संसार की समस्त आत्माओं के संदर्भ में। यह समीक्षण ही बोध देता है आत्म-समता का कि सभी आत्माएँ समान हैं—एक हैं। यह अनुमान और यह दृष्टि ही समता का मूल है अर्थात् समीक्षण मूल है और समता उसका वट वृक्ष, जो समस्त संसार को अपनी शीतल एवं सुखदायक छाया में लपेट लेना चाहती है। समीक्षण कारण है, तो समता उसका कार्य। समीक्षण मूल है, तो समता उसका सुवासयुक्त फूल।

समीक्षण संपूर्ण संसार को समान दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है, तो समता समस्त संसार को समानता में ढाल लेने के अपूर्व कृतित्व को अनुप्राणित करती है। दृष्टि से कृति तक की यह यात्रा ही आत्म-विकास की महायात्रा है, जो मन, वाणी और कर्म को एकरूपता तथा समरसता प्रदान करती है। समीक्षण ध्यान की साधना से यह आत्मा एकनिष्ठ बनती है और मन तथा इन्द्रियाँ एकाग्र, तो इनमें जो एक है और जिसके प्रति एकनिष्ठ तथा एकाग्र होना है, वही एक है समता। समता स्थिति भी है, तो आचरण भी। समता साध्य भी है, तो साधन भी।

सच पूछें तो समता एक व्यक्ति का ही साध्य नहीं अथवा एक आत्मा का ही साध्य नहीं, अपितु संपूर्ण संसार का साध्य है। साध्य इस

दृष्टि से कि एक व्यक्ति या आत्मा अपनी आन्तरिकता को समता से ओतप्रोत बना ले और अन्ततोगत्वा समत्वयोगी या समतादर्शी बन जाये। समता सम्पूर्ण संसार का साध्य इस दृष्टि से कही जायेगी कि संसार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में तथा स्वयं व्यक्तियों के सामूहिक रहन-सहन तथा व्यवहार में जितना अधिक समता का प्रसार होता जायेगा, एक व्यक्ति को समत्व योगी के लक्ष्य तक पहुँचने में उतनी ही सुविधा और सरलता बढ़ती जायेगी, क्योंकि सांसारिक जीवन में बढ़ती हुई समता निश्चित रूप से उन मानवीय गुणों को प्राणवान बनायेगी, जो एक आत्मा को सभी आत्माओं के साथ समान सहृदयता से जोड़ते हैं। तो इस रूप में समानता किसी एक ही व्यक्ति, वर्ग अथवा समूह का ही साध्य नहीं, बल्कि समस्त संसार का साध्य है।

और समता साधन भी है, समता ही के व्यापक साध्य को अवाप्त करने का। वही साधन है— एक व्यक्ति या आत्मा के लिए, तो वही साधन है— समूह, समाज या सकल विश्व के लिए भी। समता, समत्व अथवा साम्यवाद एक विचार भी है, तो कृति भी है और कृति है, तो साधन है। साधन इस कारण कि समता आचरण का सोपान भी है। समता के आचरण की विभिन्न सीढियाँ हैं, जिन पर क्रमिक रूप से आरोहण करते हुए समता के शिखर तक पहुँचा जा सकता है। अतः समता की साधना समग्र जीवन की साधना है।

एक आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है—कर्मयुक्त हो जाना यानि कि आत्मा के मूल स्वभाव पर जितने विकारों के आवरण हैं, उन्हें हटाकर आत्मा को उसके मूल निर्मल स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देना। यही आत्मा का मोक्ष होता है, उसकी सिद्धि होती है। सिद्धात्मा ही समत्वयोगी और समतादर्शी होती है। ये जो कर्म हैं, आत्मा के विकारों के—पापों के प्रतीक हैं—आत्मा की विकृत कृतियों के द्योतक हैं। कर्म पुण्य रूप भी होते हैं और उनका फल सुखद भी होता है, फिर भी सभी प्रकार के कर्मों का अन्त ही आत्मा को मोक्ष में पहुँचाता है, क्योंकि कर्म सदा ही विषमता का परिचायक होता है। जहाँ तक लेश—मात्र भी विषमता है, पूर्ण समता की अवाप्ति नहीं होती।

पूर्ण समता आध्यात्मिक समता ही हो सकती है और इस दृष्टि से पूर्ण समता की अवाप्ति एक आत्मा द्वारा ही संभव है, जो अपनी सजग एवं कठिन साधना द्वारा अपने उत्थान के चरम के रूप में अवाप्त करती है। पूर्ण समता आन्तरिक समता होती है। इसी आन्तरिक समता से बाह्य समता होती है, जो बाह्य वातावरण को समानता के सांचे में ढालने का यत्न करती है। बाह्य वातावरण इतना विषम होता है और अनेकानेक आत्माओं के संचरण से इतना जटिल कि वहाँ पूर्ण समता की कल्पना दुःसाध्य है। यह अवश्य है कि यदि पूर्ण समता को साध्य के रूप में सदैव समक्ष रखें, तो जटिल विषमता का अन्त किया जा सकता है तथा संसार के बाह्य वातावरण को भी सुखद मानवीय मूल्यों से विभूषित किया जा सकता है। आदर्श ही नीचा हो, तो उसकी प्राप्ति बहुत नीची होगी, लेकिन सर्वोच्च आदर्श को दृष्टि में रखकर जो भी प्रगति सामूहिक रूप से साधी जा सकेगी, वह भी अति मूल्यवान सिद्ध हो सकेगी।

जीवन का उद्भव और संचरण

सांसारिक दृष्टि से एक जीवन का उद्भव वर्तमान जन्म के आरंभ से माना जायेगा, जबकि आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के उद्भव का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि यह आत्मा अनादिकाल से इस संसार के जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण कर रही है तथा वर्तमान जीवन उसी की एक कड़ी है। दोनों दृष्टियों का समन्वय यों किया जा सकता है कि एक बालक जब गर्भावस्था में आता है, तो वह अपने साथ अपने पूर्वजन्म के संस्कार (कर्म बंध) भी लाता है, तो वर्तमान जन्म के संस्कारों को भी ग्रहण करता है, जो उसे अपने निकट के वातावरण से प्राप्त होते हैं। फिर भी एक बालक और एक वयस्क की तुलना में वह बालक अधिक निश्छल और निर्दोष दिखायी देता है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही माना जा सकता है कि यह बाह्य संसार, जिसमें सभी जीते हैं और जिसको सभी देखते हैं, बहुत अधिक विषम परिस्थितियों में चल रहा है। तभी तो ये विषम संस्कार एक बालक को वयस्क बनते-बनते इतना अधिक जकड़ लेते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि

से उसका जीवन अधिकाधिक विषम बनता चला जाता है।

आशय यह है कि संसार की वर्तमान परिस्थितियाँ दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक विषम होती जा रही हैं, जो एक बालक से उसकी निश्छलता और निर्दोषता को छीन लेती हैं। कल्पना करें कि यदि एक सीमा तक संसार की इस विषमता को बढ़ने से रोक दें अथवा एक सीमा तक समतामय व्यवस्था की स्थापना कर दें, तो क्या यह नहीं हो सकता कि एक बालक की जन्मजात निश्छलता और निर्दोषता सामान्य रूप से अधिक समुन्नत न बन सके, तो अधिक विकृत तो न बने। संसार के बाह्य वातावरण को इस सीमा तक तो समतामय बनाया जाये कि एक बालक को, एक व्यक्ति को या एक आत्मा को अपने शुभ संस्कारों से बिगड़ या गिरकर अशुभता से लिप्त हो जाने के लिए विवश तो न होना पड़े। जीवन के उद्भव और संचरण का दृष्टिकोण यही है कि वर्तमान जीवन के उद्भव से लेकर संचरण तक के बाह्य वातावरण को अधिकाधिक समतामय बनाने का सुप्रयास किया जाये, जिससे सुप्रभावित होकर भव्य आत्माएँ सरलता एवं सहजतापूर्वक ऊर्ध्वगामी बनें तथा समतादर्शन की सर्वोच्चता को साध सकें।

मनुष्य के जीवन का उद्भव उसकी गर्भावस्था से ही हो जाता है। गर्भावस्था में भी बालक नये संस्कारों को अपनी माता की चेतना के माध्यम से ग्रहण करता है। महाभारत काल में अभिमन्यु इसका ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है, जिसने गर्भावस्था में चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विधि तो जान ली, किन्तु वापस उसको भेदकर बाहर निकल आने की विधि न सुन पाने से उससे अज्ञात रही, फलस्वरूप उसके जीवन में जब चक्रव्यूह को भेदने का अवसर आया, तब वह उसमें प्रवेश तो कर गया, किन्तु वापस बाहर नहीं निकल सका। कहने का अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था में भी बालक की चेतना बाह्य वातावरण से बहुत कुछ संस्कार ग्रहण करती है। फिर जन्म ले लेने के बाद बालक अपने आसपास के वातावरण से भी सीखता है और ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती है, उसके सीखने का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि बालक को यदि शुभ

संस्कारों से भरा-पूरा वातावरण दिया जाये, तो उसका निर्माण श्रेष्ठ संस्कार युक्त जीवन के रूप में किया जा सकता है। बाल-शिक्षा का इसी दृष्टि से सर्वाधिक महत्व भी माना जाता है कि एक कुम्हार गीली मिट्टी को चाहे तो दीवक में बदल सकता है और चाहे तो मल-पात्र में या कोमल टहनी को ऊपर उठाकर ऊपर बढ़ने की दिशा में मोड़ सकते हैं, तो नीचे झुकाकर भू-लुंठित कर सकते हैं। बालक को इस रूप में गीली मिट्टी या कोमल टहनी मानकर उसके जीवन को सुरचनात्मक बनाने का प्रयास किया जाता है।

यह सुप्रयास इसी दिशा का परिचायक है कि जीवन का उद्भव उसके भावी संघरण की स्वस्थ प्रक्रिया में ढाला जाये, जिससे उस जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो, तो वैसे स्वस्थ वातावरण में पलनेवाले सभी जीवनों का श्रेष्ठ निर्माण हो और फलस्वरूप एक समूह, एक वर्ग, एक समाज और परिणामतः सकल विश्व का वातावरण स्वस्थ बने तथा उसमें जन्मने और पलनेवाले बालकों के जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो। कम से कम जीवन के उद्भव की श्रेष्ठता उसके भावी संघरण में बनी रहे-इतना प्रयास तो सफल बने ही। जीवन निर्माण की ऐसी श्रेष्ठता ही मन, वाणी और कर्म में समाहित होकर समता की आदर्शता तक प्रतिफलित हो सकती है।

इस विश्लेषण से दो परस्पर विरोधी तथ्य उभरकर सामने आते हैं। एक तो यह कि वर्तमान समय में विश्व में विविध प्रकार की विषमताओं ने अति ही जटिल स्वरूप ले रखा है, तो दूसरे, उसके बावजूद सामान्य जीवन में यह शुभाकांक्षा और किन्हीं अंशों में यह शुभ चेष्टा विद्यमान है कि नयी पीढ़ी के बालकों में श्रेष्ठ संस्कारों का निर्माण हो-उन्हें शुभ, सुभग एवं समुन्नतकारी शिक्षा मिले। एक निराशाजनक स्थिति है, तो दूसरी आशापूर्ण। अतः यह आवश्यक है कि वर्तमान विश्व में फैली और फैलती जा रही विषमताओं तथा उनके कारणों का आकलन किया जाये और यह निर्णय लिया जाये कि क्या इस वातावरण में सामान्य रूप से ही सही, किन्तु शुभतामय परिवर्तन लाया जा सकता है? क्या परिवर्तन की ऐसी संभावना में, नयी पीढ़ी के संस्कारों को अधिक शुभता के ढाँचे में ढालकर समता के वातावरण को अधिक पुष्ट बनाया जा सकता है?

जीवन विकास का गतिक्रम

इस ज्ञात संसार के ज्ञात समय के इतिहास को यदि देखा जाये, तो उससे मानव-जीवन के वर्तमान विकास के गतिक्रम की एक रूपरेखा समझ में आती है। प्रारंभ में मनुष्य जीवन केवल प्रकृति की कृपा पर चलता रहा, जब वन के वृक्षों से वह फल और निर्झर, नदियों से जल प्राप्त करके अपना निर्वाह चलाया करता था। जीवन निर्वाह के लिए वह कोई पुरुषार्थ नहीं करता था। ऐसा ही उल्लेख युगलिया काल का भी आता है, जब पुत्र और पुत्री का एक ही युगल जन्म लेता था, जो बड़ा होकर प्रकृति पर ही निर्भर रहा करता था। इस युगलिया काल की परिसमाप्ति ऋषभदेव द्वारा धर्म-कर्म के प्रारंभ के साथ हुई। उन्होंने ही उस युग में असि (रण कौशल), मसि (स्याही-महाजन व्यापार) तथा कसि (कृषि) के व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया। इसी अवस्था को आधुनिक इतिहासकारों ने आदिम काल कहा है, जब प्रारंभ में अग्नि का आविष्कार भी नहीं हुआ था। अग्नि के आविष्कार के बाद भोजन पकाने की विधि शुरू हुई। इस आदिमकाल में जब प्रकृति द्वारा निर्वाह पूर्ति में अल्पता आने लगी, तब मनुष्य ने खेती तथा पशुपालन का व्यवसाय आरंभ किया। अब तक मनुष्य घूमन्तु बना हुआ था, लेकिन खेती ने उसे एक स्थान पर ठहरने के लिए विवश कर दिया। उसके बाद ही बस्तियों और ग्रामों का क्रम शुरू हुआ। नदियों के किनारे-किनारे ग्रामों और नगरों का विकास होने लगा। इस विकास से दो प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुईं। एक तो सुरक्षा की समस्या, तो दूसरी आवश्यक पदार्थों की पूर्ति की समस्या। सुरक्षा की दृष्टि से क्षत्रिय जाति का निर्धारण हुआ कि वे अपने ग्राम, नगर या क्षेत्र की अपनी तलवार के बल पर रक्षा करें और उनके जीवन-निर्वाह के योग्य आवश्यक पदार्थों की पूर्ति की दृष्टि से वैश्यजाति बनी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवश्यक पदार्थ पहुँचाकर समुचित लाभ अर्जित करने लगी। यही क्षत्रिय जाति धीरे-धीरे अपनी तलवार ही के बल पर शासक जाति बन गयी, जिसने सामन्त प्रथा तथा राजतंत्र को जन्म दिया। वैश्य जाति ने अपने व्यापार के क्षेत्र को बढ़ाते हुए क्षत्रिय जाति से रक्षा पाते हुए अपना वर्चस्व दूर-दूर तक फैला दिया। चूंकि

प्रकृति की विविध शक्तियों से मनुष्य का साक्षात्कार होने लगा और तब तक प्रकृति की उसकी जानकारी पर्याप्त नहीं थी, अतः प्रत्येक शक्ति के अनुभव से उसकी पूजा और तदनुसार धार्मिक क्रियाकांडों का श्रीगणेश हुआ। इसकी जिम्मेदारी ब्राह्मण जाति ने ली। प्रारंभ से कृषि आदि व्यवसाय करनेवाली उत्पादक जाति उसकी ही पीठ पर बनी दूसरी जातियों से दबती गयी और उसका कार्य इन तीनों प्रभावशाली जातियों की सेवा के रूप में ढल गया, जो शूद्र जाति कहलाने लगी। इस प्रकार जहाँ आदिमकाल में मनुष्यों के बीच में प्राकृतिक समानता थी, वह विभिन्न जातियों ने अपने-अपने शक्ति सन्तुलन के आधार पर समाप्त कर दी। व्यवसायों के जातिगत वर्गीकरण के साथ इस रूप में सबसे पहले विषमता ने जन्म लिया।

पहले मनुष्य का अपना कहलाने को कुछ नहीं था। वृक्ष सबके थे और नदी निर्झर भी सबके थे। स्वामित्व नाम की कोई स्थिति नहीं थी। उसको खेत का स्वामित्व आया, पदार्थों का स्वामित्व पैदा हुआ, तो सम्पत्ति और राज्य का स्वामित्व बना। इस प्रकार शुद्ध समता के वातावरण में रहनेवाले मनुष्य अपने-अपने स्वामित्व की दृष्टि से भिन्न-भिन्न जातियों तथा वर्गों में बँट गये। फिर भी प्रारंभ में मानवीय मूल्यों की बहुलता थी, हृदय की सरलता और निर्मलता भी थी, जिसके कारण वे एक दूसरे के सहायक और संपोषक रहे। किन्तु सत्ता और सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व ने मनुष्य के मन में अधिकार और तृष्णा की आग लगा दी। अपने लिए अधिक से अधिक संचित करना तथा अपने व अपनों के लिए ही उसका व्यय करना—ऐसी संकुचितता पैदा होने लगी—बढ़ने लगी।

फलस्वरूप मनुष्य गलत दिशा का महत्वाकांक्षी बनने लगा। राज्य-प्रसार और व्यवसाय-प्रसार की होड़ लग गयी कि कौन कितना अधिक उपार्जन करता है और कौन अपना अधिक से अधिक वर्चस्व और प्रभाव बनाता है। मनुष्य तब पदार्थों से स्वार्थी बनने लगा और स्वार्थ बढ़ता गया, तो उसमें सामूहिक हित की भावना क्षीण होने लगी। उसकी इसी वृत्ति ने बड़े-बड़े राज्यों की और साम्राज्यों की रचना की, जिसके साथ ही दमन और शोषण का दौर-दौरा भी शुरू

हुआ। सेवा करनेवाली जाति का काम सेवा करना है—परिश्रम करना है। यह जरूरी नहीं रहा कि परिश्रम करनेवालों को उसके परिश्रम का उचित मूल्य मिले ही। वे परिश्रम पूरा करें और प्रभावशाली वर्ग उसे उसके जीवन निर्वाह के लिए जितना दे दें, उससे वह संतोष कर ले। इस व्यवस्था के चलने से राजनीति और अर्थ के नये ही ढाँचे खड़े हो गये। राजतंत्र की स्थापना करके राजा सेवक के रूप से ईश्वर रूप बन गया—ईश्वर का और इस संसार का प्रतिनिधि। उसकी भिक्षा पर पलनेवाले ब्राह्मण वर्ग ने राजा की शान में चार चाँद लगाने शुरू कर दिये। उधर व्यापारी वर्ग ने भी राजा की सेवा करते हुए अपना व्यापार ही नहीं बढ़ाया, बल्कि अपने लाभांशों का भी विस्तार कर दिया। इस प्रकार राजनीति और अर्थ ने अपना गठजोड़ा जोड़कर समाज में एक ऐसे शक्तिशाली वर्ग को जन्म दे दिया, जो समूचे समाज का शासक और भाग्य-नियन्ता बन गया।

यह शक्तिशाली वर्ग जरूर बना, किन्तु इसी वर्ग में व्यक्तिवादी होड़ भी जारी रही। वे व्यक्तिगत प्रभाव के लिए परस्पर संघर्षशील हुए। इस कारण साम्राज्यवाद के विकास के साथ भीषण युद्धों का और युद्धास्त्रों का विकास भी होने लगा। धीरे-धीरे सभी देशों में यह विकृति पनपने लगी तथा क्षेत्रवाद और समूहवाद से ऊपर राष्ट्रवाद भी एक आक्रामक शक्ति के रूप में उभरने लगा। यहीं से भयंकर युद्धों का प्रारंभ हुआ। प्रथम विश्व युद्ध (सन 1914) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध (सन 1939) तो आज भी कई लोगों की स्मृति में होंगे। इन युद्धों के बाद यह परिस्थिति स्पष्ट होती जा रही है कि अर्थ का वर्चस्व प्रमुख है और वही राजनीति को चलाता है।

इस सारे विषम विकास के बीच में भी मनुष्य के मन में बसी हुई समता कभी टूटी नहीं। वह अपनी समता की रक्षा के लिए निरन्तर सावधान भी रहा है। एक ओर तो अर्थ तथा राजनीति की शक्तियों ने अपना अलग वर्ग खड़ा कर दिया और समूचे समाज पर शासक के रूप में वे छा गयीं, तो दूसरी ओर सामान्य जन अपने दमन और शोषण के विरुद्ध लड़ते भी रहे। समता की प्रबल आकांक्षा ने ही लोकतंत्रीय पद्धति को जन्म दिया है कि जिसमें सभी नागरिक

समानता के आधार पर जी सकें। यह दूसरी बात है कि वह लोकतंत्रीय पद्धति सत्ता और सम्पत्ति के प्रपंची स्वामियों के सामने अपने शुद्ध रूप में विकसित नहीं हो सकी, लेकिन संघर्ष जारी है।

इस दौरान भौतिक विज्ञान का भी अकल्पनीय विकास हुआ। नये-नये अनुसंधानों तथा आविष्कारों ने अपार शक्ति के स्रोत खोल दिये, जिन्हें सत्ता और सम्पत्ति के स्वामियों ने अपने अधिकार में ले लिया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विज्ञान की शक्ति उनकी शासन-शक्ति बन गयी। जिस वैज्ञानिक विकास को सामान्य जन का सहायक बनना चाहिए था, वह संभव नहीं हो पाया। उसी का कुफल है कि आज का यह विश्व भयानक अणु-शस्त्रों के अम्बार पर बैठा है, जिसमें जब भी किसी घोर सत्ता-लिप्सु ने अंगार रख दिया, तो सारा विश्व धू-धू करके जल उठेगा। उस आग में सिर्फ सत्ता और सम्पत्ति की अन्यायी-शक्तियाँ ही नहीं जलेंगी, वह अमूल्य सांस्कृतिक और सुसभ्यता की धरोहर भी जल जायेगी, जिसे अपने आदर्श ज्ञान और आचरण के बल पर कई महापुरुषों ने मानव जाति के सुपुर्द किया है। वह महाविनाश समुपस्थित न हो-इस ओर आज सबका ध्यान केन्द्रित है।

इसे एक रूप में सदसद् संग्राम की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि जब ये वृत्तियाँ ही मानव हृदयों को मथती हैं, तभी उनका प्रवृत्तियों के रूप में विस्फोटन होता है। ऐसा सदसद् संग्राम आज मनुष्यों के भीतर भी चल रहा है, तो बाहर भी चल रहा है। सद शक्तियाँ दुर्बल भले हों, लेकिन सजग और सावधान अवश्य हैं। आवश्यकता है कि इन सद शक्तियों को अधिक से अधिक लोगों का सम्बल मिले और वे इतनी प्रभावशाली बन जायें कि असद् शक्तियों का शुभ परिवर्तन किया जा सके।

ज्ञात संसार के ज्ञात समय में हुए जीवन-विकास के गतिक्रम की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता और सम्पत्ति जितने अंशों में अपने अर्जन और संचय की प्रक्रिया में व्यक्तिगत हाथों में केन्द्रित होती चली जाती हैं, उतने ही अंशों में समाज में विषमता बढ़ती जाती है। कुछ बहुत अधिक सम्पन्न हो जाते हैं और अधिकांश अभावग्रस्तता की जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं। समता

के सूत्र भी बँट जाते हैं—टूट जाते हैं। विषमता कभी अकेली नहीं आती और फैलती, वह अनीति, अन्याय और अत्याचार के अनेकानेक पाशविक और राक्षसी दुर्गुणों को साथ में लाती है एवं मानव—मन को पतन के दलदल में फँसाती है। समझने का मूलबिंदु यह है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और उसकी निरन्तर बढ़ती हुई तृष्णा के चक्रवात में सामूहिक या सामाजिक हित समाप्त हो जाता है, कुछ लोगों के भौतिक वर्चस्व के नीचे लाखों—करोड़ों का जीवन—निर्वाह दब जाता है तथा सबसे बड़ी क्षति यह होती है कि मानवीय मूल्य नष्ट होते चले जाते हैं।

किन्तु आशा की किरणें लुप्त नहीं होतीं। सम्पन्न और अभावग्रस्त वर्गों की नीतिहीनता के बीच में भी समता और मानवता की ज्योति जलती रहती है। उसी ज्योति में प्रकाश भरना होता है प्रबुद्ध—जनों को, जो मानवीय मूल्यों के लिए निरन्तर संघर्षशील रहते हैं। अतः आज के विश्व की जटिल विषमता के कारण हमारे सामने हैं, जो मूल में व्यक्तिगत लिप्सा से बोटल के भूत की तरह फँसे हैं। व्यक्तिगत सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा के इस भूत को जितना जल्दी तथा जितने पुरुषार्थ से वापस बोटल में बंद किया जा सके, उतना ही मानव जाति का कल्याण निकट लाया जा सकता है और उतना ही बाह्य एवं आभ्यन्तर का त्वरित विकास भी साधा जा सकता है।

यह जीवन क्या है ?

जीवन विकास के इस गतिक्रम के उपसंहार में आखिर यह जानना जरूरी हो गया है कि यह जीवन क्या है? इसका वस्तु स्वरूप क्या है और इस जीवन को तदनुसार वास्तविक कैसे बनाया जा सकता है?

ज्ञान की चिंतन—गूढ़ता एवं आचरण की सत्यानुभूति के साथ जीवन की यह छोटी—सी व्याख्या उभरकर आती है कि जो (1) सम्यक् निर्णायक हो तथा (2) समतामय हो, वही वास्तविक जीवन है। इसे जरा विस्तार से समझें।

वर्तमान युग में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। इसका

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन एकाकी नहीं होता। वह समूह और समाज में जन्म लेता है, पनपता है और परिपक्वता ग्रहण करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अपने साथी मनुष्यों के संस्कारों, स्वभावों तथा कृत्यों से स्वयं प्रभावित होता है तथा आयु-वृद्धता के साथ वह भी अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव अपने साथियों पर यानि कि समाज पर छोड़ता है। व्यक्ति और समाज इस रूप में परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इस सम्बद्ध स्थिति में ही नवजात शिशुओं के जीवन का श्रीगणेश और विकास होता है और इस तरह जीवन की क्रमबद्धता चलती रहती है। ये परिस्थितियाँ ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी का रूप देती हैं। मनुष्य का सम्पूर्ण बाह्य जीवन एक प्रकार से इसी सामाजिक धरातल पर गतिशील होता है।

समाज में कई व्यक्ति होते हैं—भिन्न—भिन्न संस्कारों, स्तरों और स्वभावों के। इन भिन्नताओं में क्या सही है और क्या गलत है—जब तक ऐसा निर्णय लेने की बुद्धि और शक्ति न हो, तब तक यह समझ में नहीं आ सकता कि क्या ग्रहण किया जाना चाहिए और क्या छोड़ दिया जाना चाहिए? इस कारण जीवन में निर्णय—शक्ति का विकास हो—यह पहली आवश्यकता है, जो हर समय घटित होती हुई परिस्थितियों में निर्णय ले सके कि जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए तथा कौन—कौन से मानवीय मूल्यों से उसे संवारकर एक स्वस्थ जीवन और एक स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है? चारों ओर फैली विविधताओं के बीच में एकता के सूत्र यही सम्यक् निर्णायक शक्ति खोज सकती है तथा समता के सूत्रों को भी यही शक्ति एक साथ संयोजित कर सकती हैं। इसी दृष्टि से जीवन को समतामय बनाने का उल्लेख किया गया है। यों मानिये कि व्यक्ति और समाज के जीवन का परम और चरम लक्ष्य समता है और समता की सृष्टि के लिए सम्यक् निर्णायक शक्ति की पहली और आखिरी आवश्यकता है। व्यक्ति अपने प्रत्येक चरण पर अपने जीवन और समाज के जीवन के प्रति सजग दृष्टि बनाये रखे कि जो भी घटित हो, वह समता के उच्चादर्श की ओर आगे बढ़ानेवाला हो और क्या कार्य इस आदर्श के अनुकूल हैं या प्रतिकूल—इसका उसी चरण पर

सम्यक् निर्णय भी लिया जाता रहे, ताकि एक भी चरण मार्ग से भटके नहीं।

जीवन की वास्तविकता इस प्रकार सम्यक् निर्णायक शक्ति और समता के उच्चादर्श के रूप में बढ़नी चाहिए। इस वास्तविकता-बोध के बाद आज के व्यक्तिगत जीवन की मीमांसा और सामाजिक जीवन की समीक्षा करें।

वर्तमान मानव जीवन का आरंभ होता है-गर्भावस्था में उत्पत्ति के साथ। गर्भ से ही उस जीवन का जो निर्माण शुरू होता है, वह जन्म के बाद तक चलता रहता है। अतः प्रारंभ से ही इस लक्ष्य को ध्यान में रखा जाये कि बालक में निर्णायक शक्ति का विकास हो। वैसे बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से यह माना जाने लगा है कि शिक्षा का उद्देश्य जीवन को इस या उस दिशा में मोड़ना नहीं होना चाहिए। शिक्षा का यही उद्देश्य हो कि बालक के मन और इन्द्रियों का ऐसा स्वस्थ विकास कर दिया जाये कि वह अपनी प्रगति की दिशा का निर्णय लेने में स्वयं सक्षम हो। वस्तुतः प्रारंभिक संस्कारों और शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिए। यदि कोई खास दिशा, शिक्षा या गति बालक के मन पर थोप दी जाती है, तो उसका स्वस्थ विकास विवशता के भार के नीचे दब जायेगा और उसकी जीवनी-शक्ति पंगु हो जायेगी। यह सही है कि बालक असहाय होता है और उसे भिन्न-भिन्न स्तरों पर अपनी माता, अपने परिवार, अपने संगी-साथी और अपने समाज की सहायता की अपेक्षा होती है, किन्तु वह सहायता उसके लिए रचनात्मक होनी चाहिए। इसे एक उदाहरण से समझिए। सड़क के किनारे पर एक लंगड़ा बैठा हुआ है, उसे अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए आपकी सहायता की अपेक्षा है। आप कल्पना करें कि उसकी दो प्रकार से सहायता करते हैं। एक तो आपने उसको खड़ा किया, अपने कंधे का सहारा दिया और उसे ले चले, उसकी नहीं, अपनी मर्जी या अपनी सुविधा से। समझिए कि आपने उसे शहर के बाहर एकान्त में छोड़ दिया और चले आये बिना परवाह किये कि उसका वहाँ क्या होगा? दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आप उसे अस्पताल ले गये, उसके पैर का इलाज कराया और जब वह तंदुरुस्त

हो गया, तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया। अब सोचिये कि कौन सा प्रकार सही है और किस प्रकार से जीवन का स्वस्थ विकास हो सकेगा?

बालक के साथ भी यही बात है। प्रारंभिक संस्कारों और शिक्षा से उसमें यह शक्ति पैदा की जाये कि वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने जीवन-विकास के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय ले सके। उसे सहयोग दिया जाये, लेकिन वास्तविक विकास भी उस पर थोपा नहीं जाये, क्योंकि थोपने पर मानसिकता अच्छाई के भी विरुद्ध हो जाती है। स्वयं के विवेक से जो ग्रहण किया जाता है, वही स्थिरता से पकड़ा जाता है। अतः स्वयं सक्षम बनकर बालक जो निर्णय लेगा, वह अधिकांशतः सही निर्णय होगा। यही ऐसी निर्णायक शक्ति का विवेक प्रारंभ में ही सजग बना दिया जाता है, तो निश्चय मानिये कि उस जीवन का विकास सदा स्वस्थ रीति से चलेगा।

सम्यक् निर्णायक शक्ति के स्थापित हो जाने के बाद समता का मार्ग खोज लेना और उस पर दृढ़तापूर्वक गति करना कठिन नहीं रह जायेगा, क्योंकि समता की आकांक्षा मानव-मन के मूल में रहती है और वह प्रत्येक परिस्थिति में जब बाहर प्रकट होने का रास्ता ढूँढती है, तो अनुकूल परिस्थितियों में समता की आकांक्षा का फूलना और फलना अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता मानव-मन के मूल में होती है, जो गुण मूल में होता है, वह कभी न कभी अवसर एवं अनुकूलताएँ प्राप्त करके अंकुरित होता ही है और तदनुसार पल्लवित एवं पुष्पित भी होता है। अतः समता का मूल्यांकन करने की अपेक्षा हम समता को मूल्य ही मानें, तो वह एक अधिक सत्य मान्यता होगी। जो स्वयं जीवन का एक मूल्य है तथा सर्वोच्च मूल्य है, वह मूल्यांकन का गुण नहीं, सर्वतोभावेन ग्रहण करनेवाला मूल्य होता है।

अतः समता दृष्टि भी है और कृति भी। दृष्टि जागृत होती है, तो कृति आचरण में प्रकट होती है और कृति ज्यों-ज्यों परिपुष्ट होती

है, त्यों-त्यों दृष्टि निर्मल एवं प्रखर होती जाती है। अन्ततोगत्वा कृति अपनी समुन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है, तो दृष्टि भी त्रिकाल एवं त्रिलोकदर्शी बन जाती है। तब दृष्टि ही सर्व-सत्य हो जाती है। वही समत्व योग का पूर्ण सत्य होता है।

समता की यह दृष्टि तीन चरणों में पूर्णत्व प्राप्त करती है—व्यक्ति के विकासशील जीवन में। पहले वह सम्यक् दृष्टि होती है, फिर गुणदृष्टि बनकर ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र के विभिन्न सोपानों पर आरूढ़ होती है और अन्त में समतादृष्टि बनकर सर्वजग-हितकारिणी हो जाती है। एक व्यक्ति की अन्तरात्मा में समता का इस रूप में उच्चतम विकास होता है, तो उसका बाह्य जगत में भी यथाविधि प्रसार होता है। भीतर की समुन्नत समता बाहर के वातावरण को भी समानता के रूप में प्रभावित करती है और परिवार के घटक से लेकर, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण संसार में पारस्परिक सहृदयता एवं सहयोग की परिपाटी को प्रारंभ करती है। समता मानव मन में पल्लवित एवं पुष्पित होकर समग्र संसार को अपनी सुवास से आनन्दित होती है।

समता के ये तीन चरण बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं, जो मानव-मन को आंदोलित, आप्लावित और आह्लादित करते हैं। अपनी अविकास की अवस्था में मानव-मन अज्ञान के अंधकार में भटकता है, तब उसे अपने ही हिताहित की संज्ञा नहीं होती। अपने ही भौतिक सुख की वितृष्णा में वह भ्रमित होता रहता है और उस सुख की भी उसे प्राप्ति कम और पीड़ा अधिक रहती है। उस समय उसे आवश्यकता होती है सम्यक् दृष्टि की यानि कि उसकी मिथ्यादृष्टि मिटे और दृष्टि उन सत्यों को देखे, जो उसके लिए अपने स्वस्थ आत्म-विकास के प्रेरक होते हैं। उन सत्यों को देखना, समझना, परखना तथा अपनाने की प्रेरणा प्राप्त करना ही सम्यक् दृष्टि का वरण कहलाता है। असत्य को सत्य मानकर तथा दुःखदायक को सुखदायक मानकर चलनेवाले मिथ्यात्व से मुक्त होना सबसे पहले जरूरी है। मिथ्यात्व जब तक बना रहता है, तब तक विपथगामिता चलती रहती है और जो विपथगामिता है, वही भटकाव है। इस भटकाव से सत्य-पथ मिले और सत्य-पथ पर चलने की धारणा बने—यही सम्यक् दृष्टि है।

यह सम्यक् दृष्टि सम्यक् ज्ञान की अवधारणा से उत्पन्न होती है। यों तो ज्ञान प्रत्येक आत्मा में लक्षण रूप होता ही है, क्योंकि ज्ञान के सर्वथा अभाव में जीवत्व ही नहीं रहता, किन्तु वह ज्ञान अपने आत्म-विकास के पथ को परख ले और अपने साध्य को भलीभाँति पहचान ले-तभी वह सम्यक्त्व में ढलता है। यों मनुष्य संसार की विविध कलाओं का अनूठा ज्ञान और विज्ञान प्राप्त कर ले, किन्तु जब तक वह अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों के निग्रह तथा अपनी अनन्त इच्छाओं के निरोध का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को अहिंसक, सत्यमय एवं सुस्थिर नहीं बना पाता, तब तक उसका अन्य कलाओं-संबंधी सारा ज्ञान और विज्ञान अपूर्ण ही कहलायेगा। इसका स्पष्ट कारण है। जो स्वयं अपने जीवन को सर्वहितकारी बनाने की कला सीख नहीं पाता, वह दूसरा कितना ही क्यों न सीख जाये-जीवन जीने की कला नहीं सीख पायेगा। जीवन जीने की कला को दो शब्दों में परिभाषित करें कि जीओ और जीने दो। स्वयं इस तरह जीओ कि दूसरे भी सहजतापूर्वक जी सकें। यह दिखने में जितनी छोटी बात है, आचरण करने में उतनी ही कठिन और महत्व की बात है।

जीवन जीने की सच्ची कला का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि का निर्माता बनता है। व्यक्ति अपने जीवन में अकेला नहीं रहता, वह सदा ही समूह या समाज में रहता है, जहाँ उसका अपने ही साथी मनुष्यों से तो अन्य सभी तरह के छोटे-बड़े प्राणियों से हर समय संपर्क होता रहता है। उन सबके बीच में सबको सुख देते हुए और सुख लेते हुए वह कैसे जी सकता है-यही इसलिए कि प्रकाश तो है, लेकिन वह उतने मोटे पर्दों से ढका हुआ है कि उसकी झलक भी नहीं दिखायी देती। ये पर्दे अपनी ही अकर्मण्यता के होते हैं, जिन्हें कर्मों के पर्दे कहते हैं। कर्म-सिद्धान्त के कर्म कोई अन्य नहीं, अपने ही किये हुए कर्म होते हैं। कल्पना करें कि कोई जान से या अनजान से अपनी ही आँख में कील चुभो ले, तो आँख जरूर फूट जायेगी, दृष्टिहीन हो जायेगा। तो यह अपना कर्म हुआ कि अपने हाथों अपनी आँख फोड़ ली। अब दृष्टि वापस तभी प्राप्त हो सकती है, जब उसकी योग्य चिकित्सा करवायी जाये तथा वह चिकित्सा भी अपना श्रम और समय

लेगी ही। इसके बावजूद दृष्टिहीनता का दुःख लम्बा भी हो सकता है। आँख में कील हुए तो आदमी को उसके कुफल का भान रहता है, लेकिन अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख देते हुए, तड़पाते और कलपाते हुए आदमी को सभी देखते हैं, पर अपनी ताकत के गरूर में जरा भी भान नहीं रहता। ऐसा कुकृत्य अपना कुफल तो देगा ही, जल्दी से या देर से। ऐसे कुकृत्य ही कर्मबंध रूप होते हैं और उनका कुफल मिलना कर्मों का उदय में आना कहा जाता है। कर्म बुरे भी होते हैं, तो अच्छे भी। अच्छों का फल अच्छा मिलेगा। यही पाप और पुण्य है। दूसरों को दुःख दोगे, तो दुःख मिलेगा और सुख दोगे, तो सुख मिलेगा। इसलिए अपने आचरण को सुधारो और संतुलित बनाओ कि कुकृत्य कम से कम हो और सुकृत्य अधिक से अधिक। तब बुरे कर्म कम बंधेंगे और अच्छे कर्म अधिक—तदनुसार बुरा कम मिलेगा और अच्छा फल अधिक। अच्छा फल यह होगा कि आत्मिक स्वरूप में विकास हो, अनावृतता आये तथा आचरण की सुघड़ता पैदा हो। आचरण धीरे-धीरे इतना सुघड़ और स्वस्थ होता जायेगा कि नया कर्मबंध नहीं होगा और पुराना झड़ता जायेगा। यही गुण दृष्टि के विकास का क्रम होगा।

गुण दृष्टि के विकास का प्रारंभ होगा—श्रेष्ठ आचरण के शुभारंभ से कि जीवन में नियम का अनुपालन शुरू किया जाये। नियम, व्रत या प्रत्याख्यान—एक ही बात है। ये व्रत स्वयं से भी संबंधित होते हैं, तो उनका हितकारी प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। व्रत को दूसरे शब्दों में त्याग भी कह सकते हैं। अपने पास जो भौतिक सुख सामग्री है, उस पर से अपनी आसक्ति कम करते जायें—उसे छोड़ते जायें। यह पदार्थों का व्यक्तिगत त्याग उनके समाज में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया का रूप भी ले लेता है। संविभाग तब आचरण का अभिन्न अंग हो जाता है। त्याग सामान्य से आंशिक होता है, तब श्रावकत्व का व्रत होता है और जब वह त्याग सर्वथा पूर्ण हो जाता है, तब साधुत्व का महाव्रत हो जाता है। यह साधुत्व की निसरणी ही अंतिम साध्य तक पहुँचाती है। साधु 'जीओ और जीने दो' यानि कि जीने की कला की जीवंत मिसाल होता है। इसी अवस्था में गुणदृष्टि परिपक्व

होती है—गुणस्थानों के उच्चतर सोपानों पर समुन्नत बनती हुई।

जीवन में श्रेष्ठ आचरण का अवरोधक माना गया है विषय और कषाय को। विषय कहते हैं इंद्रियों के सुख को, इच्छाओं की लालसा को और सत्ता व सम्पत्ति की लालसा को। विषय ही राग-द्वेष को जन्म देते हैं। जो अपने को अच्छा लगे—मनोज्ञ हो—उससे राग होता है और अमोनज्ञ के प्रति द्वेष। राग-द्वेष की प्रतिक्रियाएँ कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जन्म देती हैं—राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान मुख्यतः फूटता है। विषय और कषाय के सम्मिलित कुप्रभाव से संपूर्ण जीवन-प्रक्रिया में प्रमाद फैलता है और यही प्रमाद श्रेष्ठ आचरण को पनपने नहीं देता। गुणदृष्टि के विकास-क्रम में इन्हीं विकारों को जड़ से उखाड़ना होता है और आचरण का प्रबल पुरुषार्थ नियम, संयम एवं तप के रूप में करना होता है। तभी ये सारे जीवन के विकार नष्ट होते हैं। जीवन तब निर्मल होता है और वही निर्मल जीवन दूसरों के लिए आदर्श बन जाता है।

यही गुणदृष्टि जब अपनी परिपूर्णता के चरम बिन्दु तक पहुँच जाती है, तब वही समतादृष्टि बन जाती है, सबको समान दृष्टि से देखनेवाली और सबको सत्य की कसौटी पर परखनेवाली। समता दृष्टि का वह चरमादर्श रूप होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि समता जीवन में इससे पहले आती ही नहीं। समता तो शुरू हो जाती है—सम्यक् दृष्टि के आगमन के साथ ही, जो तदनन्तर दृष्टि और कृति में समुन्नत बनती रहती है। अपनी पूर्णता की प्रक्रिया में समता अपने साधक के आचरण को संयमित और संतुलित बनाती है, तो उसके अंदर बाहर को सुधारती है। साधक का ऐसा संशोधित जीवन बाहर की दुनिया में भी नये-नये सुधारों को प्रेरणा देता है। इस प्रकार समता का सर्वांगीण स्वरूप क्रियान्विति में अभिवृद्ध होता रहता है।

विषमता का मूल व विस्तार

विषमता भी दृष्टि और कृति में होती है तथा उसका मूल भी विभाव के रूप में मानव-मन में ही उभरता है। मन का यह वैभाविक मूल ही मन के भीतर, मन के बाहर, अपने आसपास के वातावरण में

तथा समाज, राष्ट्र व विश्व में विस्तार पा लेता है।

एक प्रश्न उठता है कि समता स्वाभाविक है अथवा विषमता? स्वभाव उसे कहते हैं, जो अपने भाव में—अपने विचार में अच्छा लगे। इस अच्छेपन की कसौटी कहीं बाहर नहीं होती और न ही इस अच्छेपन पर फैसला कोई बाहरवाला दे सकता है। यह आत्मानुभव का विषय है। व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वभाव की परख करता है। किन्तु यहाँ एक समस्या भी पैदा होती है। क्या व्यक्ति सदा ही सही परख कर सकता है या कर लेता है? बाहर के क्रिया—कलापों से ऐसा नहीं दिखायी देता। कड़्यों को वास्तव में वैसा आचरण करते हुए देखते हैं, जो उनका स्वभाव नहीं होना चाहिए, फिर भी वे उसे अपना स्वभाव मानकर वैसा आचरण करते हैं। यह क्या है? यह भ्रमपूर्ण दशा होती है, जिसमें जो स्वभाव नहीं होता, उसे स्वभाव मान लिया जाता है। इसे ही विभाव कहते हैं—अपने भाव से विपरीत भाव।

प्रश्न उठता है कि इस स्वभाव—विभाव को जाँचेगा कौन और कौन विभाव को मिटाने की प्रेरणा देगा? यह सब अपना खुद का मन, अपनी आत्मा ही करेगी। यह सही है कि व्यक्ति विपरीत आचरण करता है—विषमता से खुलकर खेलता है और फिर भी चेतता नहीं है, किन्तु यह उसका विभाव ही होता है। एक क्रूर से क्रूर व्यक्ति को भी उसके दिल की बात पूछो, तो वह कहेगा कि किसी की दयापूर्ण सहायता का वह छोटा—सा काम भी कर लेता है, तो उसे मन में खुशी होती है, लेकिन अपने स्वार्थ के लिए या अन्य किसी परिस्थिति के वशीभूत होकर वह क्रूर और हिंसक कार्य करता है। इसमें भी वह अपने मन को मारता है। क्रूर के पहिले या बीच—बीच में उसके अन्तर्मन से यह आवाज जरूर उठती है कि वह ऐसा न करे, किन्तु उस आवाज को वह अनसुनी कर देता है और धीरे—धीरे उसकी वह आत्मा की आवाज उपेक्षित होकर दब जाती है, तब यों समझिये कि उसका स्वभाव भी दब जाता है। स्वभाव नष्ट नहीं होता, दबता ही है, इस कारण दबे हुए स्वभाव को फिर से प्रकट करने के लिए चहुंमुखी प्रयासों की आवश्यकता होती है। व्यक्ति में भी जागृति लायी जाये और सामूहिक वातावरण में भी ऐसा सुधार किया जाये कि जहाँ विभाव

की अवमानना हो और स्वभाव को प्रोत्साहन मिले। मुख्यतः पहिचान और विभाव परिवर्तन की प्रेरणा अपने ही भीतर से उठनी चाहिए, क्योंकि भीतर से उठी हुई प्रेरणा ही कर्मठतापूर्वक क्रियाशील होती है।

विषमता और विभाव एक दूसरे को फैलानेवाले होते हैं। व्यक्ति जब अपने विचार, वचन तथा कार्य में स्वभाव से फिसलता है, तब उसके मन में विभाव अपनी जड़ें जमाता है और जिस रूप में विभाव फैलता है, उतनी ही विषमता उग्र रूप धारण करती है। मन से उपजी हुई विषमता न सिर्फ वृत्तियों को विषम बनाती है, बल्कि उस व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियों में वह विष घोल देती है और प्रवृत्तियों का वह विष ही सम्पर्क से परिवार, समाज और राष्ट्र में फैलकर जन-जन को विषमता में रंगने लगता है और ज्यों-ज्यों विषमता फैलती है, उन्मत्तता में, मूर्खता में या कि विवशता में स्वभाव की समता और समरसता कटु बनती रहती है—विभाव का आतंक बढ़ता जाता है।

इसलिए विषमता के विस्तार को रोकने के लिए तथा उसका मूलोच्छेद करने के लिए सबसे पहिले व्यक्ति को अपने विभाव को ही रोकना होगा—विभाव का ही मूलोच्छेद करना होगा। किन्तु इस दिशा में व्यक्ति का पुरुषार्थ तभी जगेगा, जब वह विषमता और विभाव के सम्बन्धगत कारणों को भलीभाँति समझले।

इस संसार में जन्म लेने के बाद सबसे पहले जो समस्या मनुष्य के सामने खड़ी होती है, वह होती है जीवन—निर्वाह की समस्या। इस समस्या का समाधान अनिवार्य होता है। इस से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। जीवन—निर्वाह के साधन और पदार्थ सामान्यतया विपुल नहीं होते या कि सुलभ भी नहीं होते कि सभी लोगों को वे अनायास प्राप्त हो जायें। जीवन—निर्वाह के लिए अति आवश्यक पदार्थ भी आयास—प्रयास के उपरान्त न मिलें, तब भी समस्या खड़ी होती है और जिनको वे पदार्थ विपुलता से मिल जायें तथा वे उनको संचित करके अपने अधिकार में दबाये रखें—तब भी समस्या खड़ी होती है। समस्या तब नहीं रहती, जब समान हार्दिकता से सभी प्राप्त पदार्थों का सभी लोगों में संविभाग होता रहे। तब यदि पदार्थों की अल्पता भी रहती है, तो भी समस्या नहीं आयेगी, क्योंकि संविभाग

और समान न्याय से सभी मन से संतुष्ट रहेंगे। पदार्थ अल्प हो और असंविभाग भी रहे, तब समस्या जटिलतर हो जाती है।

समस्या की जटिलता इस तरह फूटती है कि जब कोई हमदर्दी छोड़कर निर्दयी बनता है, साथियों के आँसुओं को पीकर स्वार्थान्ध हो जाता है, तो वह अपने ही लिए येन-केन-प्रकारेण आवश्यक पदार्थों को जुटाने की कुचेष्टा करता है। कुचेष्टा इसलिए कहा जाये कि वह उपार्जन उसका नीतिमय नहीं होता। अनीति और अन्याय से ही वह अधिक लूटता है और उनका संचय भी करता है। ऐसा संचय पहले से पदार्थों की अल्पता को अधिक भयावह और कष्टदायक बना देता है। जिन्हें आवश्यक पदार्थ नहीं मिलते, उनकी सहनशक्ति जवाब दे देती है, उनका धैर्य छूट जाता है। विभाव की बाढ़ के सामने वे भी अपना स्वभाव भूल जाते हैं। इस प्रकार आचरण में आरंभ होती है हिंसा और हिंसा ही समस्या की जटिलता की जड़ होती है। हिंसा ही रक्षक संस्कारों को भक्षक के रूप में विकृत बनाने लगती है। हिंसा की तरफ झुक जाने से व्यक्ति अपने स्वभाव की और अपनी आत्मा की आवाज की निरन्तर उपेक्षा करने लग जाता है, क्योंकि हिंसा उसके हृदय के कोमल भावों को कुचल डालती है।

आचरण में हिंसा के फूट पड़ने के बाद जीवन का सारा संतुलन टूट जाता है। फिर हर रास्ता विषमता का रास्ता बन जाता है। यह विस्तृत विषमता का वातावरण कैसा होता है—उसका प्रत्यक्ष अनुभव आज शायद सभी को हो रहा होगा। आज पारस्परिक संबंधों की मर्यादाएँ टूट रही हैं, पारम्परिक शिष्टाचार मिट रहा है और अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए कोई भी बे-रोकटोक आक्रामक और हिंसक बन जाता है। यही कारण है कि अपराध वृत्ति, दंगे और संघर्ष सामान्य बात हो गये हैं। हिंसा का द्वार जिस व्यक्ति के अथवा समाज या राष्ट्र के जीवन में खुल जाता है, फिर उसकी संस्कृति और सभ्यता भी नष्ट होने लगती है। हिंसा सभी प्रकार के दुर्गुणों तथा पापमय आचरणों की जननी होती है। यह हिंसा रूई में पड़ी चिनगारी से लगी आग की तरह तेज गति से फैलती ही जाती है, तब उस पर काबू पाना भी एक अति कठिन कार्य हो जाता है।

हिंसा का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी का वध कर देना ही हिंसा नहीं, अपितु दस प्राणों में से किसी भी प्राण का हनन करना या उसको कष्ट पहुँचाना भी हिंसा है। किसी को आतंकित करना, डराना या उसे अपने अधीन बनाना भी हिंसा है। ये सब हिंसा के रूप जब फैलते हैं, तो मानवीय गुणों का ह्रास होता है और जीवन-मूल्य नष्ट होते हैं। इसे एक दृष्टान्त से समझें। एक परिवार में सभी खून के सम्बन्ध में बंधे होते हैं। अतः स्पष्ट है कि हृदय से अपेक्षित या अधिक निकट होते हैं। सोचें कि एक परिवार में पाँच-छः सदस्य हैं। उनमें वृद्ध भी हैं, तो बच्चे भी हैं। यद्यपि धनार्जन का श्रमपूर्ण कार्य युवक सदस्य करते हैं, तब भी अधिक व्यय वृद्धों और बच्चों पर किया जाता है, क्योंकि उन्हें पोषक तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है। कमानेवाले सदस्य ऐसा करके अपने को कर्तव्यनिष्ठ मानते हैं और यह नहीं सोचते कि कमाते वे हैं और खर्च उन सदस्यों पर अधिक होता है, जो कमाते नहीं। इस प्रकार की पारिवारिक मर्यादाएँ स्वस्थ रूप से ढल जाती हैं और चलती रहती हैं। यह पारिवारिक कर्तव्य और शिष्टाचार बन जाता है। अब सोचें कि उस परिवार में अर्जन में कमी आ जाये और पदार्थों की अल्पता होने लगे, तब भी पारिवारिक मर्यादाओं के रहते प्रचलित व्यवहार में परिवर्तन नहीं आयेगा। सभी एक दूसरे के लिए कष्ट भोग को तैयार रहेंगे और स्नेह यथावत् रहेगा। इस अल्पता के कष्ट यदि बढ़ने लगे और कोई युवा सदस्य उत्तेजना पकड़ ले या फिर क्रूरता अपना ले, तो निश्चय मानिये कि दिलों में दरार पड़ जायेगी और एक सुखी परिवार दुःखपूर्ण मानसिकता से घिर जायेगा। हिंसा का द्वार किसी भी रूप में खुला नहीं कि दुःखों की बाढ़ आयी नहीं, क्योंकि विभावगत विषमता सबके मन-मानस में कटुता भर देगी और देखते-देखते परिवार की एकता नष्ट हो जायेगी। ऐसा ही सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी घटित होता है।

इस रूप में विषमता का विस्तार हिंसा के द्वार से आरंभ होता है और गुण-मूल्य की क्षति के साथ बे-रोकटोक फैलता रहता है। सोचना है कि विषमता के इस विस्तार का मूल कहाँ है ? एक शब्द

में कहें कि यह मूल है—जड़ सम्पर्क से जड़ के प्रति सघन बन जानेवाला चेतन का व्यामोह। विषमता इसी से उपजती है और आध्यात्मिक दृष्टि से कर्मबंधन तथा संसार—परिभ्रमण भी इसी से होता है। जब तक इस सत्य को हृदयंगम नहीं करेंगे कि आत्मा चेतन गुणवाली होकर संसार के सभी जड़ पदार्थों से पृथक् है और जड़—चेतन संयोग तथा उसके प्रति जटिल व्यामोह इस पृथक्त्व को स्पष्ट नहीं होने देता है, तब तक यह व्यामोह कम नहीं होगा और वैसी दशा में विषमता भी कम नहीं होगी।

अधिक जड़ग्रस्तता : अधिक विषमता

संसार में जो कुछ इन बाहर की आँखों से दिखायी देता है, यह सब जड़तत्वों की रचना है। आत्म—तत्त्व चर्म—चक्षुओं का विषय नहीं होता, अनुभूति का विषय होता है और यह अनुभूति अभ्यास से मिलती है। अतः सम्यक् ज्ञान के अभाव में इन जड़—तत्वों के प्रति ही झुकाव पैदा होता है और इन्हीं की प्राप्ति में सुख की कल्पनाएँ की जाती हैं। अपने शरीर और अपनी वस्तुओं के प्रति पनपनेवाला यह झुकाव ही प्रगाढ़ होकर ममत्व का रूप ले लेता है।

ममत्व की इस भूमिका पर ही विषमता की विष बेल उगती है। ममत्व का अर्थ है मेरापना। यह मेरा है और यह तेरा है—इसी बिंदु से विषमता शुरू होती है। 'मेरा मैं रखता हूँ और तेरा तू रख'—की वृत्ति तब तक ही चलती है, जब तक मानवीय मूल्यों का सत्प्रभाव रहता है। यह सत्प्रभाव जब घटने लगता है और जो घटता है, ममत्व की मूर्छा के बढ़ते रहने के साथ—तब मेरा भी मैं रखता हूँ और तेरा भी मैं रखूँगा—ऐसा क्रूर अनीतिमय स्वार्थ जागता है। इसके साथ ही हिंसा का द्वार खुल जाता है।

ममत्व पैदा होता है आसक्ति से और आसक्ति मूर्छारूप होती है, जिससे सदसद् की संज्ञा क्षीण हो जाती है। शरीर मेरा है और इन्द्रियों का सुख मेरा है—इस मान्यता के साथ कामनाएँ जागती हैं कि मुझे शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के ऊँचे से ऊँचे सुविधापूर्ण साधन मिलें, ताकि मैं अपनी इन्द्रियों को तृप्त करूँ। यह तृप्ति भी बड़ी

अनोखी होती है, जो मिलती कभी नहीं और साधनों की प्राप्ति के साथ ज्यादा से ज्यादा भड़कती रहती है। जिन साधनों की कामना की जाती है, उनको पाने में आसक्ति की बहुलता के कारण विचार और व्यवहार की उचितता अथवा नैतिकता भुला दी जाती है। फिर ज्यों-ज्यों इच्छित साधनों की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों प्राप्त का सुख भोगने की अपेक्षा अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता अधिक सताती है। तथ्यात्मक स्थिति यह होती है कि तृप्ति कभी होती नहीं, सुख कभी मिलता नहीं। जो सुख महसूस करते हैं, वह सुख भी वैसा ही होता है, जैसा सुख एक कुत्ता सूखी हड्डी चबाते रहकर अपने ही खून का स्वाद लेता है और सुख महसूस करता है। जड़ पदार्थों का सुख भी सूखी हड्डी जैसा होता है, जो आत्म-गुणों का नाश करके इन्द्रियों के सुखाभास में जीवन को भ्रमित बनाता है और विषमता के जाल में फँसाता है।

इसी कारण परिग्रह-सत्ता और सम्पत्ति के प्रति आसक्ति भावना को मूर्छा रूप कहा है, क्योंकि यही आसक्ति-भावना परिग्रह-धारी या परिग्रह-हीन को भी घोर परिग्रहवादी बनाती है। परिग्रहवाद है जड़ग्रस्तता और जीवन में जितनी अधिक जड़ग्रस्तता सघन बनती है, उतनी ही विषमता भी जटिल बनती है। इस विषमता से व्यक्ति के जीवन में शक्ति-स्रोतों का सन्तुलन बिगड़ जाता है, तो व्यक्ति का असंयमित एवं असन्तुलित जीवन समाज और राष्ट्र के वृहद् शक्ति स्रोतों को भी विकृति की राह पर धकेलता है। जब व्यक्ति की विषमताग्रस्त अवस्था में उस की मानवीय गुणवत्ता, सौजन्यता तथा हार्दिकता कुंठाग्रस्त बन जाती है, तो वही कुंठा व्यापक बनकर राष्ट्रीय चेतना पर प्रहार करती है। जड़ग्रस्तता के फँलाव में भोग, स्वार्थ और मूर्छा का फँलाव होता है। यह एक ऐसे अँधेपन का फँलाव होता है, जिसमें मनुष्य निजी स्वार्थों का संकुचित घेरा बनाकर उसी में अपने को कैद कर लेता है। वह परहित को भूल जाता है, बल्कि अपने निकटस्थों के सुख-दुःख से भी द्रवित नहीं होता और अपनी ममत्व-मूर्छा में ही उन्मत्त बन जाता है। तब वह आध्यात्मिक ज्ञान से तो शून्य होता ही है, किन्तु लौकिक व्यवहार से भी शून्य होता जाता है। यही उसके सर्वमुखी पतन का मार्ग होता है।

जड़ग्रस्तताजन्य विषमता छूत के रोग के समान होती है, जो अधिक सत्ता और सम्पत्ति येन-केन-प्रकारेण अर्जित कर लेने का प्रलोभन बिखेरती हुई अधिक लोगों को तीव्र गति से जड़ग्रस्त बनाती है, इस कारण इसकी रोक व निवारण के उपाय भी उसी स्तर से किये जाने चाहिए, जो किसी संक्रामक रोग के लिए किये जाते हैं। यह कार्य प्रबुद्ध जनों, धर्मोपदेशकों आदि का होता है, जो जड़ग्रस्तता की हानियों को भली प्रकार समझाकर सामान्य रूप से ऐसी विषमता के विरुद्ध जनमत बनाने का प्रयास करते हैं। इसी से त्याग का रुझान भी बढ़ता है और आत्मोन्मुखी वृत्ति विकसित होती है।

समता की दृष्टियाँ

विषमता एवं हिंसा से आवृत वर्तमान जटिल वातावरण में आशा की किरणें दिखायी देती हैं, जो दो प्रकार से मनोमानस को हताश नहीं होने देतीं। एक तो यह बुनियादी तथ्य है कि मनुष्य का स्वभाव समतामय है और विभावगत विषमता के कितने ही गहरे कीचड़ में वह चाहे फँस जाये, उसका स्वभाव समय-समय पर समता की बलवती प्रेरणा के झटके लगाता ही रहता है। अव्यक्त तरीके से तो यह स्वभाव मनुष्य को उसकी प्रत्येक विकृत वृत्ति या प्रवृत्ति के कार्यरत होने से आरंभ में ही चेतावनी देता रहता है, जिसे अनसुनी करते-करते भी यह चेतावनी असर कर ही देती है।

इसका पुष्ट कारण यह है कि कोई कितना भी पतन के गड्ढे में चला जाये, मनुष्य का मन अपनी चंचलता के कारण क्रिया और प्रतिक्रिया के चक्र में घूमना नहीं छोड़ता। जड़तापूर्ण विषमता के प्रति जागी हुई मन की रागात्मक क्रिया भी जब एक सीमा तक कार्यरत हो जाती है, तो उसी से उसकी प्रतिक्रिया भी फूटती है। उस प्रतिक्रिया के क्षणों में वह मन अगर सम्यक् बोध पा जाये, तो प्रभावशाली परिवर्तन भी संभव हो जाता है।

दूसरी प्रकार की आशा की किरण यह होती है कि सामूहिक और सामाजिक रूप से विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भी कई प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो उस पतनावस्था के विरुद्ध विद्रोह

और संघर्ष करते हैं तथा अपनी सदाशयता से नीति एवं समतामय परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। प्रयत्नों की यह निरन्तरता एक ओर विषमताओं को अति सघन नहीं बनने देती, तो दूसरी ओर पतनोन्मुख व्यक्तियों के हृदयस्थ भावों में शुभ परिवर्तन का आन्दोलन जगाती रहती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने ही मन की बदलती विचारणाओं के कारण और समूह या समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा बदली जानेवाली धारणाओं के कारण समता के साध्य से पूर्णतः विस्मृत कभी नहीं होता। इस कारण हताशा कभी भी उत्साही मनो को शिथिल न बनाये—यह शिक्षा लेनी आवश्यक है। विषमता का जितना गहरा घटाटोप अंधकार है, उसमें समता की एक तीली भी कोई जला सके, तो वह भी यत्किंचित् प्रकाश की रेखा अवश्य अंकित करेगी। एक व्यक्ति के कई प्रयास या निरन्तर प्रयास जब कई व्यक्तियों के निरन्तर प्रयासों से परिपुष्ट होते हैं और जब आर्थिक एवं राजनीतिक प्रयास भी समाज में सामूहिक परिवर्तन की दृष्टि से किये जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि विषमताओं का चलन बहुत हद तक न घटे और समता को प्रोत्साहन देनेवाला सामान्य धरातल भी न बने। ऐसे शुभ कार्य में त्याग और बलिदान की अपेक्षा तो रहेगी ही। रेगिस्तान की तपती हुई रेत में पड़नेवाली और तुरन्त विलुप्त हो जानेवाली वर्षा की पहली बूँदों की तरह विषमताओं को मिटाने के भगीरथ कार्य में भी समर्पित भावना अनिवार्य मानी जानी चाहिए। आज की स्थिति भी इस दृष्टि से असाध्य किसी हालत में नहीं है।

समता (समत्व) को घटानेवाले जितने सार्थक प्रयास व्यक्तिगत एवं सामूहिक—दोनों स्तरों पर किये जायेंगे, उतनी ही समता की सृष्टि सर्जित होती हुई चली जायेगी। समता के ऐसे चहुंमुखी विकास के लिए समता के मूल्यों को आत्मसात कर लेने के साथ समता की दृष्टियों का भी यथार्थ ज्ञान कर लिया जाना चाहिए। प्रधानतः समता की दो दृष्टियाँ मानी जाती हैं। पहली आभ्यन्तर दृष्टि, तो दूसरी बाह्य दृष्टि। ये दोनों दृष्टियाँ एकदम पृथक्-पृथक् नहीं होतीं, बल्कि दोनों दृष्टियाँ अधिकांशतः एक दूसरे की पूरक भी होती रहती हैं, क्योंकि दोनों प्रकार की दृष्टियों का धारक दृष्टा व्यक्तिः एक ही होता है,

अतः दोनों दृष्टियों का सामंजस्यपूर्ण सहयोग भी समता की पृष्ठ-भूमि को सुदृढ़ बनाता है।

इस तथ्य में कोई विवाद नहीं कि किसी भी सामूहिक सुकृति अथवा दुष्कृति का आरंभ व्यक्ति रूपी घटक से ही होता है तथा व्यक्ति का वह सुकृत अथवा दुष्कृत रूपी कार्य बाहर क्रियान्वित होने से पहले ही उसके हृदय में विचार रूप में जन्म लेता है। इस रूप में मनुष्य के ही हृद्-तल से विषमता भी फूटती है, तो उसी हृद्-तल पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विद्यमान समता भी वहीं से पल्लवित एवं पुष्पित होती है। किसी भी बाह्य कार्य का कारण सदैव आभ्यन्तर के अनुभाव में पैदा होता है। अतः इस दृष्टि से दोनों दृष्टियों में आभ्यन्तर दृष्टि का महत्व ही अधिकतर माना जायेगा। इस महत्व का सही अंकन यही हो सकता है कि समता को व्यापक रूप से प्रसारित करने का कोई भी अभियान मानव हृदय से आरंभ किया जाना चाहिए, जिसका सम्यक् परिवर्तन ही सम्पूर्ण विषम परिस्थितियों में या यों कहें कि जड़ग्रस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में शुभ परिवर्तन का बीजारोपण कर सकता है।

समता स्वभावगत होने से सत्य होती है और विभावरूप विषमता असत्य। इस सत्य का उद्घाटन उसी आन्तरिकता में किया जा सकता है और किया जाना चाहिए, जहाँ सत्य आवृत और आच्छन्न होकर दबा हुआ पड़ा है। इस का अर्थ है कि उस आन्तरिकता में आत्मीय-अनुभूति का संचार किया जाये। आत्मीय अनुभूति यह कि संसार की सभी आत्माएँ अपने मूल स्वरूप से एक हैं तथा संसार परिभ्रमण में कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित रहने के कारण प्रत्येक आत्मा अपनी आत्मीय भी है। आत्मीयता की इस अनुभूति से ममता घटेगी कि सब कुछ मेरे ही लिए क्यों ? सब पदार्थ सबके लिए हैं और जब सभी परस्पर आत्मीयता के सूत्र से बंधे हुए हैं, तो उन पदार्थों का उपभोग भी सबके लिए सुलभ क्यों न हो ? ममता घटेगी, तो समता बढ़ेगी कि सब पदार्थ ही क्यों, मैं स्वयं भी सबका हित क्यों नहीं साधूँ ? सबका हित साधने का संकल्प ही स्व-कल्याण और सर्वस्व त्याग की भूमिका बनाता है। एक हृदय के समत्व स्वभाव को भी यदि उभारकर क्रियाशील बना दिया जाता है, तो वह एक बुनियादी

काम होगा। एक की आभ्यन्तर दृष्टि में आया हुआ शुभ परिवर्तन न केवल उस व्यक्ति के वचन और व्यवहार को समता का जामा पहनायेगा, बल्कि उस व्यक्ति की आभ्यन्तर दृष्टि में आया वह परिवर्तन उसकी बाह्य दृष्टि में उतरेगा तथा वह अन्यान्य कई व्यक्तियों को दोनों दृष्टियों से प्रभावित करेगा। बाह्य दृष्टि में सुप्रकट समता का स्वरूप उन अनुभव लेनेवाले व्यक्तियों की आभ्यन्तर दृष्टि में उतरेगा और उनकी आन्तरिकता में भी समता के समर्थन में एक सफल आन्दोलन चलेगा। आभ्यन्तर और बाह्य दृष्टियों की प्रक्रिया के चक्र में प्रवाहित होता हुआ समता का अनुभाव जब व्यक्ति और समाज की कृति में उतरेगा, तब जो नवनिर्माण होगा, उसी की नींव पर समतावादी समाज की रूपरेखा को साकार रूप दिया जा सकेगा।

समता की आभ्यन्तर दृष्टि को उभारने में आध्यात्मिकता का ही प्रमुख योगदान हो सकता है। मानस परिवर्तन बलात् संभव नहीं होता और बलात् परिवर्तन ला भी दिया जाये, तो उसका स्थायित्व सदा संदिग्ध रहेगा। इस कारण शुभ योगमय परिवर्तन की इच्छा ही आन्तरिकता में जगानी होगी। यह इच्छा जगेगी सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप को समझकर तथा आत्मा के सर्वोच्च विकास को चरम साध्य मानकर। यह दृष्टि आध्यात्मिकता ही प्रदान करती है। वीतराग देवों ने इच्छा निरोध रूप संयम, जड़ पदार्थों से ममत्व त्याग तथा आठों कर्मों के क्षय रूप तप का मार्ग प्रशस्त कर रखा है और इसी मार्ग की प्रेरणा से व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन लाकर उसके मन, वचन, काया के अशुभ योगों को शुभता में परिणत कर सकते हैं, जिनके आधार पर भीतर और बाहर समता की संरचना की जाये। इस रूप में आत्मीय समता की अनुभूति ही समता की भावना को स्थिरता प्रदान करेगी, तो उसे कृतित्व के सांचे में भी ढालेगी। बाह्य वातावरण में जब समता का विस्तार होगा, तो उससे बाह्य वातावरण भी सुधरेगा और जन-जन की आन्तरिकता में भी समता का उदय होने लगेगा। अतः समता की दोनों प्रकार की दृष्टियों में शुभ परिवर्तन तथा विकास के प्रयत्न करने के साथ-साथ दोनों के पारस्परिक सामंजस्य को भी क्रियाशील बनाते जाना चाहिए, ताकि व्यक्ति की आन्तरिकता में और बाह्य वातावरण में

यानि कि संसार की आन्तरिकता में भी यथोचित परिवर्तन पूर्ण किये जा सकें।

समता का दार्शनिक स्वरूप

समता के दार्शनिक स्वरूप को समता के आचरण का आधार—स्तंभ माना जाना चाहिए। दर्शन होता है वह वैचारिक मूल—जिस पर संरचना का सृजन किया जाता है। वैचारिकता यदि यथार्थ, बोधगम्य एवं सानुभव हो, तो उसके अनुसार किया जानेवाला कृतित्व सदा ही सार्थक स्वरूप ग्रहण करेगा।

यहाँ हम समता दर्शन को चार प्रकार के वर्गीकरण से इस रूप में समझने का यत्न करेंगे कि उसकी दार्शनिकता के साथ उसकी व्यावहारिकता भी सुप्रकट हो सके। यदि कोई भी दर्शन व्यवहार्य न हो, तो उसकी उपादेयता कम हो जाती है। समता के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन करके यही स्पष्ट किया जायेगा कि उसे व्यवहार रूप में ढालने पर व्यापक सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात किया जा सकता है, क्योंकि समता दर्शन और उसके व्यवहार से प्रभावित साधकों की बहुत बड़ी संख्या और वह भी स्थान—स्थान पर पहले ही तैयार की जा सकती है। इस दृष्टि से समता का दार्शनिक—स्वरूप एक नयी ही उत्क्रान्ति का कारणभूत हो सकता है।

किसी भी अच्छे विचार या व्यवहार को गतिशील बनाने के लिए उसके वाहकों की आवश्यकता होती है। विचार दीपक की बाती की तरह यदि एक से अनगिनत बातियों को नहीं जला पाता, तो समझिये कि वह अपने समुचित विकास को प्राप्त नहीं कर सकेगा, किन्तु विचार के ऐसे विकास में उस हाथ की सदा जरूरत रहेगी, जो दीये को हाथ में उठाकर उसकी जलती हुई लौ को दूसरे दीयों की बातियों से छुआ—छुआकर प्रदीप्त करता रहे। इसी तरह व्यवहार को भी उसके चालकों की जरूरत होती है। इसलिए समता के विचार और व्यवहार को कार्यक्षम सफलता दिलाने के लिए वाहकों और चालकों की सेना यानि निःस्वार्थ साधकों की टोलियाँ एकदम जरूरी हैं, जिनके प्राणवान सहयोग के बिना समता की ज्योति के प्रकाश को भी अंधेरे

दिलों में भरा नहीं जा सकेगा। इस योजना पर इसी अध्याय में आगे जाकर प्रकाश डाला जायेगा कि समता-साधकों को समता प्रसार के लिए कैसे तत्पर बनाया जाये और कैसे समता के नव-निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की जाये। व्यवहार की योजना के पहले समता के विचार के सभी पक्षों पर गहराई के साथ चिन्तन-मनन करके तत्-सम्बन्धी सम्यक् निर्णायक शक्ति को अवश्य ही जागृत कर लेना चाहिए, जो प्रत्येक चरण पर आत्माधारित सम्बल का रूप ले सकेगी।

समता के दार्शनिक स्वरूप को निम्न चार वर्गों के रूप में समझकर वैचारिक एकरूपता एवं व्यावहारिक कार्यक्षमता का निर्माण किया जाना चाहिए -

(1) सिद्धान्त-दर्शन - समता का समारंभ भी स्वयं से शुरू होना चाहिए। पहले हम निज को सम बनायें अर्थात् सम सोचें, सम जानें, सम मानें, सम देखें और सम करें। सम का अर्थ होता है-समानता यानि सन्तुलन। एक तुला के दोनों पलड़े जब समान होते हैं, तब उसे सन्तुलित कहा जाता है। वह तुला सन्तुलित है यानि बराबर तोल रही है, इसका सही संकेत मिलता है-उस तुला के कांटे से। तुला के समान जब मन का कांटा भेद को भूलकर और केन्द्रित होकर वस्तुस्थिति को देखता है, उस पर सोचता है, तब तदनुकूल करने का निर्णय लेता है-वैसे मन को सन्तुलित कहा जाता है। ऐसा सन्तुलन कब रह सकता है ? जब मन इच्छाओं का दास बनकर न भटकता हो, बल्कि संयम का आराधक बनकर एकनिष्ठा अपना लेता हो। अपने हित पर चोट भी पड़े, तब भी मन का सन्तुलन न बिगड़े-ऐसा अभ्यास संयम कराता है। संयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नहीं। यदि सम टूट जाये या दुर्बल हो जाये, तो विषमता तेज प्रहार करने से नहीं चूकती और उसके प्रहार से आहत होकर मन स्वार्थ, भोग एवं विकार से पुनः घिर जाता है। अतः साधे गये सम की सुरक्षा होती है-संयम से तथा संयम सुदृढ़ बनता रहता है-त्याग से। त्याग का अर्थ है-जो अपने पास है, उसे किसी प्रयोजन के हित में छोड़ना। ऐसा छोड़ना हृदय को एक अलग ही प्रकार का आनन्द देता है। इसलिए यह त्याग ही समता का पीठबल होता है।

त्याग और भोग ये जीवन के दो पहलू हैं। एक समता का

वाहक है, तो दूसरा विषमता का जनक। त्याग के धरातल पर निर्मित हृदय की उदारता से ही समता का प्रसार किया जा सकता है, जबकि भोग मनुष्य को उसकी आन्तरिकता से हटाकर उसे उसके शरीर से बाँधता है, परिग्रह की मूर्छा में पटकता है और जड़ग्रस्त स्वार्थी की अंधी दौड़ में घुटने तुड़वाता है। राग, द्वेष और विषय-कषाय की आँधियों में आत्मा को धकेलकर वह उसे अविचारपूर्वक अन्याय, अनीति और अत्याचार की राह पर आगे कर देता है। इसलिए अहिंसक जीवन प्रणाली को अपनाने तथा सत्य की शोध में निकल पड़ने के बाद स्वाभाविक और स्वैच्छिक रूप से जो उत्कृष्ट त्याग उभरता है, वह त्याग समता-सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु है। यह कह सकते हैं कि जितना ऊँचा त्याग, उतनी ही ऊँची समता। समता की साधना के समय विचार एवं कार्य-दृष्टि निरन्तर इसी केन्द्र-बिन्दु पर लगी रहनी चाहिए। त्याग समतल पर अंकुरित होकर कितनी ऊँचाई तक उठ सकता है—उसकी कोई सीमा नहीं है—अवसर और भावना से ही उसका मूल्यांकन किया जा सकता है। ऐसे त्याग के बल पर ही समता का उच्चादर्श उपलब्ध किया जा सकता है। त्याग की यह सामान्य निष्ठा कही जायेगी, जब मैं यह प्रण लूँ कि मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात नहीं करूँगा। जबकि त्याग की यह विशेष निष्ठा होगी और उस निष्ठा की उच्चता किसी भी सीमा तक निखर सकती है, जब मैं यह निश्चय करूँ कि मैं दूसरे प्राणियों के हितों की रक्षा के लिए अपने हितों को भी छोड़ दूँगा, अपितु अपने सर्वस्व तक को न्यौछावर कर दूँगा। ज्यों-ज्यों त्याग सामान्य बिन्दु से विशेषता की साढ़ियों चढ़ता हुआ ऊपर उठता जाता है, त्यों-त्यों समता की समरसता भी भीतर, बाहर और चारों ओर दूर-दूर तक फैलती जाती है तथा छोटे-बड़े सभी स्तरों के मनुष्यों एवं प्राणियों तक के बीच में सबको सुख देनेवाला वातावरण रच देती है। यों कह दें कि त्याग समता का पीठ-बल होता है, जिसके बिना समता की सुस्थिर प्रतिष्ठा संभव नहीं है। इसलिए समता का सिद्धान्त-दर्शन सभी मानवीय मूल्यों के हृदय रूप त्याग में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आत्मीय गुणों का सार गूँथकर समता के सिद्धान्त-दर्शन की

सप्तवर्णी पुष्पमाला बनायी गयी है, जो इस प्रकार है—(अ) आत्मीय समता—अपने मूल स्वरूप में और विकास के चरम में सभी आत्माओं में समता विद्यमान है और उसकी अनुभूति आत्मीय समता को प्रेरित करती है। इस आत्मिक स्वरूप के आधार पर मनुष्य में यह स्वभाव जागना चाहिए कि वह किसी भी प्रकार से शूद्र या हीन नहीं है। वह कर्मावरणों को हटाकर अपनी आत्मा को मूल रूप में प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखता है। उस में कर्मण्यता का भाव जागना चाहिए कि वह सिद्धात्माओं की समता में पहुँचने का सत्पुरुषार्थ करे। अपने से ऊपर की आत्माओं के साथ समता प्राप्त करने का वह पराक्रम दिखाये, तो नीचे के स्तर पर रही हुई आत्माओं पर अपनी करुणा बरसाकर उन्हें भी समता का महत्व सिखायें और अपना आश्रय देकर ऊपर उठाये। यही आत्मीय समता के सिद्धान्त का मर्म है। समता के सिद्धान्त—दर्शन का इस प्रकार पहला सिद्धान्त यह होगा कि सभी आत्माओं के लिए अपना परम विकास तक सम्पादित करने में अवसर की समानता है—कोई विषमता या विभेदपूर्ण स्थिति नहीं है। जो भी ज्ञान और प्राणियों का हिताकांक्षी बनेगा, वह स्वयं समता पायेगा और बाहर समता फैलायेगा। वह समत्व योगी बन जायेगा। (ब) 'दु' का परित्याग—आत्मीय समता को उपलब्ध करने के लिए अपने सम स्वभाव का निर्माण होना चाहिए और सम स्वभाव के निर्माण के लिए मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता तथा शुभता आवश्यक है। अपना सोचना, अपना बोलना और अपना करना अपनी मनःस्थिति को व्यक्त करता है, जिसकी समता की कसौटी यही होगी कि इन तीनों में समानता है। मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता से ही किसी की विश्वसनीयता तथा प्रतिष्ठा का आधार बनता है और उसे भद्र पुरुष कहा जाता है। किन्तु जो सोचता एक बात है और बोलता दूसरी बात है तथा करता तीसरी बात है—उसको धूर्त कहा जाता है तथा उसका विश्वास कोई नहीं करता।

मन, वाणी और कर्म की समता बनेगी—उनकी शुभता से और शुभता के लिए 'दु' का परित्याग करना होगा। दुर्भावना, दुर्वचन और दुष्प्रवृत्ति रूप अशुभ योग व्यापार जब तक चलता रहता है, पूर्ण शुभता

नहीं आती और पूर्ण समता अवाप्त नहीं होगी। समता का अर्थ है—संसार के सभी प्राणियों के प्रति सदभावना और भावना सद होगी, तभी वचन और कर्म सद बन सकेगा। सद बनने से असद छूटेगा, शुभ वरने से अशुभ मिटेगा और विषमता को दूर हटाने से समता जागेगी तथा यह तथ्य—परिवर्तन होना चाहिए—समस्त योग व्यापार में। योग व्यापार की शुभता और समता आन्तरिकता से लेकर विश्व के विस्तृत वातावरण तक प्रभावशाली बनेगी। भावना ही वह शक्ति है, जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना में कर्मनिष्ठ बनाती है तथा 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का विवेक—सम्पन्न वाहक होती है। (स) जीओ और जीने दो — यह सिद्धान्त अहिंसक जीवन की प्रतिकृति है। समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि संसार के सभी मनुष्य, यहाँ तक कि सभी प्राणी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे का अस्तित्व मिटाने का उसको कोई अधिकार नहीं है। वस्तुतः उसका यह कर्तव्य होता है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक प्राणी के स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा में नियोजित करे। यह रक्षा का भाव करुणा और अनुकम्पा से उपजता है। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता और समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन में नये प्राणों का संचार कर देता है।

इस अहिंसक जीवन शैली में इस सीमा और मर्यादा का पालन करना होता है कि एक अहिंसक कहीं भी किसी अन्य जीवन के साथ टकराव की स्थिति में न आये तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। जैसी अपनी आत्मा है, वैसी सबकी आत्मा है—ऐसा अनुभाव तब पैदा होता है, जब मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति सजग और सावधान हो जाता है। सब जीवों के प्रति समान रूप से स्नेह, सहानुभूति एवं सहृदयता की वर्षा करने में ही समता की तरल सार्थकता रही हुई है। प्रत्येक प्राणी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारने से ही मनुष्य के समूचे जीवन में एक ऐसा समतामय परिवर्तन आता है, जो सारी जीवन—विधा को ही बदल देता है। ऐसे मनुष्य में कभी दंभ या हटवाद नहीं भड़कता, क्योंकि उसके विचार में विनम्रता समा जाती है। वह कभी यह नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हूँ। वह सबका समादर करता है,

इसलिए वह सबके सुख-दुःख का सहभागी भी होता है। अहिंसक जीवन-शैली की गुण-सम्पन्नता समूचे वातावरण को समता के अमृत से आप्लावित बना देती है-विभोर कर देती है। (स) यथायोग्य वितरण-यह सही है कि जड़ पदार्थों के प्रति मनुष्य की मूर्छा घटनी और मिटनी चाहिए, लेकिन यह उतना ही सही है कि जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना कोई जीवन चल नहीं सकता और जब इन्हीं जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकार के सम्बन्ध में अन्यायपूर्ण नीति चलती हो, तो पहला काम उसे मिटाना होगा। मूल आवश्यकताएँ होती हैं-भोजन, वस्त्र और निवास। सभी जीवनधारियों की मूल आवश्यकताएँ पूरी हों-यह पहली बात, परन्तु दूसरी बात भी उतनी महत्वपूर्ण है कि वह पूर्ति विषम नहीं होनी चाहिए, जो कि पास्परिक ईर्ष्या और द्वेष की कटुता को पैदा करे। यही कारण है कि समता के सिद्धान्त-दर्शन में समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के यथाविकास यथायोग्य वितरण पर बल दिया जाता है।

यथाविकास एवं यथायोग्य वितरण का लक्ष्य यह होगा कि जिसको अपनी शरीर दशा, धंधे या अन्य परिस्थितियों के अनुसार जो योग्य रीति से चाहिए, वैसा उसे दिया जाये। यही अपने तात्पर्य में सम वितरण होगा। अब जहाँ सम वितरण का प्रश्न है-ऐसी सामाजिक व्यवस्था भी होनी चाहिए, जो ऐसे वितरण को सुचारु रूप से चलाये। इस दृष्टि से वितरण को सुचारु बनाने के लिए उत्पादन के साधनों पर भी किसी न किसी रूप में समाज का नियंत्रण आवश्यक होगा, ताकि व्यक्ति की तृष्णा वितरण की व्यवस्था को अव्यवस्थित न बना दे। उपभोग-परिभोग के पदार्थों की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा बाँधने से भी सम वितरण में सुविधा हो सकेगी। मूल आवश्यकता के अलावा सुविधापूर्ण पदार्थों का भी वितरण ऐसा हो, जो आर्थिक विषमता का चित्र न दिखाये, क्योंकि पदार्थों का अभाव उतना घातक नहीं होता, जितना पदार्थों का विषम वितरण। अतः यथाविकास यथायोग्य वितरण का सिद्धान्त मान्य किया जाये। (द) संपरित्याग में आस्था-समता के एक साधक को संपरित्याग में सदा आस्था रखनी चाहिए तथा अवसर आने पर सर्वस्व-त्याग की तत्परता भी दिखानी चाहिए। ऐसा संकट-काल

हो अथवा शुभ प्रयोजन की पूर्ति में आवश्यक हो, तो व्यापक जन-कल्याण की भावना से अपने पास जो कुछ हो, उसे त्यागने में भी तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की वृत्ति में आस्था होने का यही आशय है कि समता-साधक अपनी संचित सम्पत्ति में ममत्व न रखे, बल्कि उसे भी समाज का न्यास समझे तथा यथावसर संविभाग हेतु समाज को समर्पित कर दे। जन-कल्याण का अर्थ भी काफी व्यापक दृष्टि से समझना चाहिए। जैसे अकाल आदि का प्राकृतिक संकट हो, लोग धनाभाव में भूख से मर रहे हों और समता-साधक अपनी सम्पत्ति को दबाकर बैठा रहे, तो यह उसकी समता-साधना नहीं होगी। सामूहिक-हित को व्यक्ति के हित से ऊपर मानना होगा। सामूहिक-हित-साधना में व्यक्ति के त्याग को सदा ही प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। सामाजिक व्यवस्था सर्वजन-हितकारी इसी निष्ठा के साथ बनायी जा सकती है।

समता का सिद्धान्त-दर्शन तो संपरित्याग की आस्था को मनुष्य के मन में अधिकाधिक विकसित रूप में देखना चाहेगा, क्योंकि यह आस्था जितनी गहरी होगी, उतनी ही सम्पत्ति और सत्ता के प्रति मनुष्य की मूर्छा क्षीण होगी। इसका सीधा प्रहार विषमता पर होगा, जिससे अर्थ-लोलुप परम्पराएँ मिटेंगी, वितृष्णाजन्य वृत्तियाँ बदलेंगी और सामूहिक जीवन में सरसता की नयी शक्तियों का उदय होगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था यदि सम बन जाती है, तो सही जानिये कि व्यक्ति-व्यक्ति का चारित्र भी शुभता और शुद्धता का वरण करने लगेगा। (य) गुण और कर्म का आधार - वर्तमान युग अर्थ प्रधान बना हुआ है तथा इसमें श्रेणी, विभाग या वर्गीकरण आदि का आधार अर्थ ही बना हुआ है। अर्थ ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मानदंड बना हुआ है, किन्तु समता की साधना में यह सब मान्य नहीं हो सकता। जब अर्थ को जीवन के शीर्षस्थ स्थान से नीचे उतार दिया जाये और मानवीय मूल्यों से उसे नियंत्रित कर दें, तो वर्तमान समाज का सारा ढांचा ही बदल जायेगा। जब अर्थ नीचे उतरेगा, तो स्वयं ही गुण ऊपर आ जायेगा और यही समता के सिद्धान्त-दर्शन को अभीष्ट है कि समाज के सारे मानदंड गुणाधारित हो। राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समता के परिवेश में

तब धन सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा, अपितु गुण एवं कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। ऐसा विभाजन मानवता का तिरस्कार करनेवाला नहीं होगा, बल्कि समता के लक्ष्य की ओर बढ़ाने के लिए स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का अवसर देनेवाला होगा। एक बात तब और होगी। अर्थ के नियंत्रण में जब चेतना शक्ति सजग रहेगी, तो वितृष्णा की जड़ता कभी पैदा नहीं होगी। वैसी दशा में वह अर्थ भी समाज सुधार में सहायक बन जायेगा।

इस कारण सिद्धान्त रूप से एक समता-साधक का गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी-विभाग में विश्वास होना चाहिए। गुण और कर्म का आधार किस रूप में हो-इसे भी समझ लेना चाहिए। समाज में ऊँची श्रेणी, ऊँचा आदर और ऊँची प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिए, जिसने अपने जीवन में ऊँचे मानवीय गुणों का सम्पादन किया हो और जिसके कार्य सदा लोकोपकार की दिशा में गतिशील रहते हों। गुण-कर्म-युक्त विभाजन का यह सुप्रभाव होगा कि नीचे की श्रेणियोंवाला स्वयं अधिक गुणार्जन के साथ ऊपर की श्रेणी में चढ़ने का सत्प्रयास करता रहेगा। गुण और कर्म ही मनुष्यता की महानता एवं समाज की प्रतिष्ठा के प्रतीक हों तथा पौद्गलिक उपलब्धियाँ उनके समक्ष हीन दृष्टि से देखी जाये, यही वांछनीय है। गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और उसमें सर्वांगीण समता की साधना सुलभ हो जायेगी।

(र) मानवता प्रधान व्यवस्था-समता के सिद्धान्त-दर्शन का निचोड़ यह होगा कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का लक्ष्य यह हो कि शासन जड़ का नहीं, चेतन का हो, सत्ता और सम्पत्ति का नहीं, मानवता का हो। अर्थ की प्राप्ति से नहीं, मानवीय गुणों की उपलब्धि से समाज या राज का नेतृत्व प्राप्त होना चाहिए। मूलतः मानवता प्रधान व्यवस्था का गठन करना होगा।

मानवता प्रधान व्यवस्था से सम्पत्ति व सत्ता के स्वामी को नहीं, मानवीय गुणों के साधक को प्राण-प्रतिष्ठा मिलेगी और गुणवत्ता अनुप्राणित होगी। तब सम्पत्ति और सत्ता पाने की छिछली व धिनौनी होड़ भी खत्म हो जायेगी, तो वास्तव में विषमता के कीटाणु भी नष्ट

हो जायेंगे। तब चेतना, मनुष्यता तथा कर्मनिष्ठा की प्रतिष्ठा होगी और सर्वहित में जो जितना ज्यादा त्याग करेगा, वह उतना ही पूजा जायेगा। सम वातावरण में दृष्टि सम बनेगी तथा समदृष्टि वस्तु-स्वरूप की यथार्थता को देख सकेगी। यह अवलोकन अन्तरावलोकन बनकर आत्मोत्थान का कारणभूत हो जायेगा।

(2) जीवन-दर्शन-वही सिद्धान्त प्रेरणा का स्रोत बन सकता है, जो तदनुकूल कार्य क्षमता को जागृत करे। ज्ञान और क्रिया का संयोग सिद्धि के लिए अनिवार्य है। यह युति ही मनुष्य को सर्व प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर सकती है। चाहे वे बन्धन कैसे भी हों-पूर्वार्जित कर्मों के रूप में हों अथवा विषमता एवं तज्जन्य विकारों से ही क्यों न उपजे हों, व्यक्तिगत एवं समाजगत शक्तियों के ज्ञान एवं क्रिया के क्षेत्र में साथ-साथ कार्यरत होने से विकास में भी विषमता नहीं रहेगी। इससे यह नहीं होगा कि कुछ व्यक्ति तो अपनी उग्र साधना के बल पर विकास की चोटी पर चढ़ जायें और बहुसंख्यक लोग पतन के गड्ढे में बेभान पड़े रहें। विकास की चोटी पर चढ़नेवाले तो तब भी होंगे, किन्तु जीवन-विकास की अपेक्षा से सभी लोगों का मुख अवश्य ही चोटी की तरफ होगा और पाँव धीमे या जल्दी उधर ही आगे बढ़ रहे होंगे।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण उठाते समय समग्र वस्तु ज्ञान को तीन भागों में विभाजित करके तदनुसार अपने क्रिया-कलापों को दिशा दी जाये। ये विभाग हो- ज्ञेय (जानने लायक), हेय (त्यागने लायक) और उपादेय (स्वीकारने और आचरण लायक)। सब जानो, किन्तु जीवन में उतारो उनको ही, जो उतारने लायक हों। वर्तमान हेय को छोड़ने तथा उपादेय को ग्रहण करने का क्रम साथ-साथ ही चलेगा। जैसे ज्यों-ज्यों विषम आचरण छूटता जायेगा, त्यों-त्यों समता का आचरण पुष्टतर बनता जायेगा। समस्त वस्तु-ज्ञान का यह त्रिरूपी विभाजन सबसे पहले समता-साधक को स्वयं समझना चाहिए तथा निम्नानुसार अपने आचरण को ढालना चाहिए :-

(अ) सप्त-कुव्यसन त्याग-मांसभक्षण, मदिरापान, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन ये सात कुव्यसन बताये गये हैं,

जिनमें से एक भी जब व्यक्ति के जीवनाचरण में प्रवेश पा जाता है, तो वह उस जीवन को गुणवत्ता की दृष्टि से नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं, फिर सातों का तो कहना ही क्या? अतः आचरण-शुद्धि के पहले कदम के रूप में सप्त-कुव्यसन का त्याग लिया जाना चाहिए। ये कुव्यसन जहाँ व्यक्ति के जीवन को घोर पतन में तिरोहित करते हैं, वहाँ समाज के वातावरण को भी कलंकित बनाते हैं। इनके रहते सभी ओर पतन की संभावनाओं को स्थायी भाव मिलता है। अतः इनके त्वरित-परित्याग की ओर कदम शीघ्रातिशीघ्र आगे बढ़ने ही चाहिए। इसके लिए संयम की मुख्य धारा से अपने आपको जोड़ना होगा।

(आ) पंच व्रत आचरण- जब दुराचरण का त्याग करके सदाचरण की ओर उन्मुख हुआ जायेगा, तब उस सदाचरण का स्वरूप भी स्पष्ट होना चाहिए। इस हेतु पंच-व्रतों का अवलम्बन लिया जाना चाहिए, जिनका आंशिक पालन श्रावक करता है और सर्वथा पालन साधु धर्म की महत्ता रूप होता है। ये व्रत हैं-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

ये पाँच व्रत जीवन विकास की कड़ी के रूप में होते हैं। हिंसा विषमता का महाद्वार होती है, इस कारण जब विषमता त्यागनी है, तो हिंसा को पहले त्यागना होगा। अहिंसापूर्ण आचरण को अपनाये बिना समता की दिशा में गतिशील होना तो दूर-उस तरफ उन्मुख भी नहीं हो सकेंगे। अहिंसा का पोषण होना अचौर्य और अपरिग्रह व्रतों से जो परिग्रह की मूर्छा को घटाकर जीवन में संयम-चेतना का विकास करेंगे तथा उसमें अपूर्व सहायता देना ब्रह्मचर्य व्रत है। इस प्रकार इन व्रतों की साधना साधक को सत्य की ओर ही अग्रसर करेगी। सत्य का साक्षात्कार करना ही पूर्णभावेन समता का वरण करना है तथा समदर्शी बन जाना है। मिथ्या का त्याग और सत्य का अनुशीलन ज्ञान एवं क्रिया की युक्ति को स्पष्ट, पुष्ट तथा आत्मनिष्ठ बना देगा।

(इ) उच्च प्रामाणिकता - वास्तव में देखा जाये, तो प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता प्रत्येक नागरिक का सामान्य गुण होना चाहिए, किन्तु इस अर्थ-प्रधान युग ने उसे दंभी और पाखंडी बना दिया है। समाज का समूचा वातावरण ऐसा दुरंगा बन गया है कि जो है कुछ

और तथा अपने को बताता है कुछ और। यदि ऐसा पाखंड है, तो वह राजनीति, अर्थनीति या समाज नीति में सफलताओं पर सफलताएँ पाता हुआ ऊपर से ऊपर उठ जायेगा। आश्चर्य की बात यह होगी कि उसे इस समाज में प्रामाणिकता का जामा भी ओढ़ने को मिल जायेगा, किन्तु समता की साधना में पाखंड को कहीं भी स्थान नहीं रहेगा। प्रामाणिकता का मूलमंत्र यह होगा कि जो जितने अच्छे क्षेत्र में काम करता है और जितने ऊँचे पद पर जाता है, उसका प्रामाणिकता के प्रति अधिक से अधिक दायित्व बनेगा अर्थात् क्षेत्र की गरिमा तथा पद की मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता लाने पर बल दिया जायेगा। प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता की धारा उन लोगों से बहेगी, तो समता का स्रोत बन जायेगी। उच्च प्रामाणिकता आचरण में से विषमता के मिट जाने पर ही प्रतिष्ठित हो सकेगी और मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता के साथ समता की प्रबल पृष्ठभूमि बन जायेगी।

(ई) संयम का अनुपालन – प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता के प्रतिष्ठार्जन के पश्चात् आचरण के चरण अधिक शुद्धि की दिशा में अग्रगामी बनेंगे। तब जीवन में एक स्वस्थ एवं व्यवस्थित परिपाटी का उदय होगा, जिसका आधार होगा—निष्कपट भाव से मर्यादा, नियम एवं संयम का अनुपालन। मर्यादाएँ वे हैं, जो व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के सुचारु रूप से निर्वहन के कारण हित परम्पराओं के रूप में ढल गयी हैं। नियम वे हैं, जो जीवन और संगठन को स्वच्छ अनुशासन का रूप देते हैं तथा संयम का महत्व और गुणगौरव तो सभी को ज्ञात है। ऐसी मर्यादाओं, नियमों तथा संयम के अनुपालन में भावों की निष्कपटता पहले जरूरी है। ऐसी दशा में विश्वासघात एवं आत्मघात की दो स्थितियाँ स्वतः ही टल जायेंगी। समता के साधन का जीवन इस रूप में पूर्ण नियमित तथा संयमित बन जाना चाहिए, ताकि विषमता के प्रवेश के सभी मार्ग ही बन्द हो जायें और समता की समरसता सभी क्षेत्रों में छा जाये।

(उ) विचारपूर्ण निर्वहन – समाज में रहते हुए व्यक्ति के कई पक्ष होते हैं और इस कारण उसके दायित्व भी बहुमुखी हो जाते हैं। अतः यथास्थान, यथावसर, यथाशक्ति एवं यथायोग्य रीति से ऐसे

बहुमुखी दायित्वों पर ईमानदारी से विचार किया जाये तथा इन्हीं सब 'यथा' के साथ उन दायित्वों का विचारपूर्ण निर्वहन भी किया जाये। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति एवं परिवार से लेकर समूचे प्राणी-समाज के प्रति अपने सभी दायित्वों एवं कर्तव्यों का समुचित रीति से निर्वहन कर सकेगा तथा सर्वत्र समता के स्थायी भाव को संचरित भी कर सकेगा। कर्तव्यहीनता यों विषमता का लक्षण बनती है या विषमता की वाहिका, अतः विचारपूर्ण निर्वहन का सदाग्रह सदा प्रदीप्त रहना चाहिए।

(ऊ) सबमें एक : एक में सब - समता के जीवन-दर्शन का यह प्रमुख अंग होगा कि सबमें एक और एक में सबकी धारणा बलवती बने तथा अपने व्यवहार में सब एक के लिए और एक सबके लिए सदैव सन्नद्ध रहे। इस सूत्र पर आचरण इतना प्रभावी होगा कि विषमता के विष की आखिरी बूँदें भी सूखकर नष्ट हो जायेंगी और सारा समाज पारस्परिक हित-सहयोग तथा एकता के सूत्र में आबद्ध होकर आध्यात्मिक एवं आत्मोन्मुखी हो जायेगा। सहयोग एवं सहानुभूति के सुखद वातावरण से आश्वस्त होकर सभी के चरण समता प्राप्ति की दिशा में तेजी से आगे बढ़ सकेंगे। विचार, वचन और व्यवहार में सर्वत्र समता का समावेश दिखायी देगा।

(ए) व्यापक आत्मीय निष्ठा - जैसे अपने परिवार में रहता हुआ एक व्यक्ति सामान्य रूप से सारे भेद-भाव भूल जाता है और अपने सभी कर्तव्यों के प्रति सजग रहते हुए सबकी यथायोग्य सेवा भी करता है, उससे भी उन्नत रूप में एक समता-साधक समूचे विश्व को अपना परिवार मानकर अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों का एकनिष्ठा से पालन करता है। परिवार में रक्त-सम्बन्ध की प्रबलता होती है, परन्तु वसुधा के विशाल परिवार में भावना की सघनता रक्त-सम्बन्ध को बहुत पीछे छोड़ देती है, क्योंकि उस भावना का आधार व्यापक आत्मीय-निष्ठा पर टिका हुआ होता है। मानव-जीवन में विकास के लिए कोई भी ऊँचाई असाध्य नहीं होती। जो सोचता है कि वैसी ऊँचाई नहीं मिलेगी, तो यह उसकी दुर्बलता ही होती है। जो जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा से ओतप्रोत होकर समता मार्ग पर आगे बढ़ जाता है, वह सबसे

ऊँची ऊँचाई को भी प्राप्त करके रहता है।

(3) आत्म-दर्शन - आत्मदर्शन का अर्थ होता है—मूल आत्म-स्वरूप का दृष्टा बनना, क्योंकि दृष्टा बनकर ही ज्ञाता और विज्ञाता बना जा सकता है तथा यह जाना जा सकता है कि यह आत्मा ही स्वयं कर्ता एवं अपने ही किये हुए कर्मों का भोक्ता है। न इसको कोई अन्य चलानेवाला है, न ही सुख—दुःख देनेवाला है। यही इसकी भाग्यविधाता है—स्वयं भाग्य बनाती है और उसका फल भोगती है।

यह आत्म-दर्शन अपनी स्वतंत्र सत्ता और शक्ति का प्रेरक बनेगा। संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो इस आत्मा को सुख या दुःख देती हो। जैसा यह आत्मा कर्म करती है अच्छा या बुरा अथवा शुभ या अशुभ, वैसा ही उसका वह फल भोगती है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह होगा कि यदि उसे सुख चाहिए, तो शुभ कर्म करने चाहिए। दूसरों को सुख देनेवाले कर्म शुभ या पुण्य रूप होते हैं और दूसरों को दुःख देनेवाले कर्म अशुभ तथा पाप रूप होते हैं। आत्मा को यानि कि मनुष्य को इससे सार यह लेना है कि सुख दोगे, तो सुख मिलेगा और दुःख दोगे, तो दुःख मिलेगा। यों सुख पाने की प्रत्येक आत्मा को अभिलाषा रहती है, किन्तु अज्ञानवश या कि जड़ग्रस्तता से वह सुख के कारणभूत कार्य करती नहीं है और बबूल बोकर आम के फल लेना चाहती है। आत्म-दर्शन की साधना से यह जानकारी और सीख मिलती है कि सुख और शाश्वत सुख पाने के कौनसे उपाय हैं तथा उसकी प्राप्ति का कौनसा मार्ग है ?

समता का आत्म-दर्शन सबसे पहले 'मैं' की अनुभूति कराना चाहता है और जड़ व चेतन तत्व का स्वरूप—बोध कराता है। इसके साथ ही आत्मा और शरीर के पृथक्त्व का ज्ञान देकर आत्मा के चरम साध्य मोक्ष की साधना—विधि बताता है। आत्म-दर्शन से ही कर्म सिद्धान्त की जानकारी मिलती है कि कैसे और क्यों कर्म बंधते हैं, किस उपाय से कर्मबंध रुकता है तथा किस साधना से कर्मों का क्षय किया जा सकता है ? यह भी ज्ञात होता है कि पूर्वार्जित कर्मों का फल कैसे उदय में आता है और कैसे कर्मफल की शुभता का योग लेकर कर्ममुक्ति का सफल पुरुषार्थ किया जा सकता है ? आत्म-दर्शन

में इस आत्म पुरुषार्थ की फलवत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है कि कैसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना करते हुए व उत्तरोत्तर उच्चस्थ गुणस्थानों में आरोहण करते हुए आत्मा वीतरागी सयोगी केवली होकर अयोगी और सिद्ध हो जाती है ? यही समता की अवाप्ति का चरम होता है।

आत्म—दर्शन से ही आत्म—समत्व का ज्ञान होता है और चिन्तन, मनन एवं स्वानुभूति के आनन्दमय क्षणों का रसास्वादन। तपों की अग्नि में तपकर जब आत्मा शोधित स्वर्ण के समान निर्मल हो जाती है, तब वह संसार की सब आत्माओं में एकत्व और समत्व की प्रतीति लेती है। आत्म—दर्शन की दिशा में पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से समता—साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने चाहिए, जो इस प्रकार के हो सकते हैं :—

(अ) आत्म—चिन्तन एवं आत्मालोचना—स्वयं के बारे में सोचें और स्वयं की स्वयं आलोचना करें—यह एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। स्वयं के बारे में सोचने का मतलब है—आत्म—स्वरूप के बारे में सोचना, वर्तमान आत्म—दशा पर सोचना, शुद्धता पर लगे आवरणों के बारे में सोचना तथा उन आवरणों को हटाकर आत्म गुणों के प्रकटीकरण के बारे में सोचना। इस सोच का क्या अभिप्राय है ? यही कि मनुष्य बाह्य वातावरण और भौतिक सुखों में ही इतना न रम जाये अथवा विषय—कषाय प्रमाद के दलदल में इतना न फँस जाये कि निजत्व को ही भूल जाये तथा अपने स्वरूप संशोधन के उपाय न करे। प्रतिदिन भीतर झाँकते रहने से आत्म—स्वरूप ओझल नहीं होता और उसके ओझल नहीं होने से उसकी विदशा को संशोधित और परिमार्जित करने का ध्यान सदा बना रहता है।

इस ध्यान में असावधानी हो अथवा संशोधन व परिमार्जन के काम में भूलें होती रहें, उसके लिए आत्मालोचना की प्रक्रिया है कि सही रास्ते से जहाँ भी या जितने भी दूर हटें, उस पर विचार करें और अपनी उस असावधानी या भूल के लिए प्रायश्चित लें। जो किया उसका पश्चाताप और उसे आगे से नहीं दोहराने का संकल्प—यह

आत्मालोचना है।

अतः प्रतिदिन प्रातः एवं सायं समता—साधक को आत्म—दर्शन करना चाहिए यानि कि एक—दो घड़ी आत्म—चिन्तन करना चाहिए तथा विचारपूर्वक आत्मालोचना भी करनी चाहिए। इससे निरन्तर आत्म जागृति बनी रहेगी और प्रमाद न करते हुए समय के मूल्य की अनुभूति होती जायेगी।

(ब) सत्साधना का नियम — समता—साधना की अन्तरंग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहनी चाहिए, किन्तु इस सतत प्रवाह को पुष्ट करने के उद्देश्य से सत्साधना के लिए नियमित समय निर्धारण का नियम भी आवश्यक है कि प्रतिदिन निर्धारित समय पर सत्साधना में बैठा ही जाये और उस समय के कर्तव्यों को निष्ठापूर्वक पूरा किया ही जाये।

सत्साधना के क्षेत्र में किन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों को भी हाथ में ले सकते हैं, जो स्व—पर कल्याण से सम्बन्धित हों तथा यथाशक्ति यथाविकास सम्पन्न की जा सकती हों, किन्तु अभ्यास अबाध रूप से नियमपूर्वक चलना ही चाहिए, ताकि सभी क्षेत्रों में समता के लिए चाह निरन्तर प्रगाढ़ होती जाये। इस सत्साधना से आभ्यन्तर एवं बाह्य समता—स्थापना—हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजने की प्रेरणा मिलेगी तथा ऐसी पद्धतियों के विकास का अवसर भी मिलेगा, जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन के साथ समाज के विस्तृत क्षेत्र में भी भावात्मक एवं कार्यात्मक एकरूपता पैदा की जा सके। स्वतंत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता से ही समतामय वातावरण को सुदृढ़ एवं सुस्थिर बनाया जा सकेगा।

(स) स्वाध्याय — चिन्तन की प्रक्रिया एवं निर्णायक शक्ति तब तक अपूर्ण ही रहेगी, जब तक आगम—शास्त्र एवं सत्साहित्य का अध्ययन न हो तथा उनका नित्य स्वाध्याय न किया जाता हो। यों स्वाध्याय को स्व का अध्याय भी कहते हैं, जो आत्म—स्वरूप—दर्शन की प्रक्रिया हो जाती है। स्वाध्याय की परिपाटी से उन महापुरुषों के उपदेशों को हृदयंगम कर सकते हैं, जिन्होंने आत्मदर्शन करके

परमात्म—अवस्था को प्राप्त कर लिया। इसी परिपाटी से हम उनके उपदेशों पर स्वयं चिन्तन करके उनकी उपादेयता का मूल्यांकन कर सकते हैं। चिन्तन और मनन का अभ्यास स्वाध्याय से ही परिपक्व होता है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है, तब यह सर्वथा संभव है कि चिन्तन की धारा में कोई भी आत्मा विपुल गहराई में उतरकर विचारों के नये—नये मोती ढूँढ लाये।

अतः समता के साधक को प्रतिदिन नियमित रूप से स्वाध्याय करना चाहिए, ताकि चिन्तन—मनन की वृत्ति सजग बने। पढ़ें और सोचें—फिर अपना निर्णय लें—यह क्रम ही मनुष्य को सदा विवेकशील एवं प्रगतिशील बनाये रखता है। स्वाध्याय, चिन्तन और स्वानुभूति — ये एक ही आत्म—पुरुषार्थ के तीन चरण हैं।

(द) लोकोपकार की भावना — आत्म—दर्शन का सार मनुष्य के मन में इस रूप से जागना चाहिए कि क्रमशः यह प्रगति साधी जाये। पहली भावना—मैं किसी को दुःख न दूँ। दूसरी भावना—मैं सबको सुख दूँ तथा तीसरी भावना—सबको सुख देने में स्वयं को दुःख सहने पड़ें, तो मैं उन्हें सुखपूर्वक सहूँ। ये हैं लोकोपकार की भावना के विकास के तीन स्तर, जो मनुष्य को अधिकाधिक त्याग के लिए अनुप्राणित करते हैं। अहिंसक जीवनशैली का सीधा सुप्रभाव लोकोपकार पर पड़ता है, क्योंकि निषेध रूप अहिंसा किसी भी प्रकार के हिंसाचरण को रोकती है, तो अहिंसा का विधि रूप अनुकम्पा और रक्षा का सर्वोच्च भावात्मक सम्बल होता है।

सबको अपने कठिन त्याग के आधार पर सुख देने की भावना इस दिशा की क्रियात्मक भावना होगी कि लोकोपकार के क्षेत्र को विस्तृत किया जाये, उसे सर्वमुखी समता का समतल धरातल प्रदान किया जाये। इस वृत्ति में मनुष्य अपनी आत्मा की सेवा—शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ समता को सकल विश्व की परिधि तक फैला देने में सक्षम हो जायेगा। स्वार्थों को समेटो और आत्मीयता को सर्वत्र फैलाओ—यही एक समता—साधक का प्रमुख आचरण—सूत्र बन जाना चाहिए।

(य) आत्म विसर्जन – आत्म-दर्शन की आखिरी मंजिल होती है आत्म विसर्जन यानि कि त्याग, सेवा और समता की दृष्टि से वृहत्तर समता – स्थिति के निर्माण-हित अपने आपको भी भुला देना और साध्य में स्वयं को विलीन कर देना। आध्यात्मिक भाषा में यह कायोत्सर्ग की सर्वोच्च तपस्या होगी, जब आत्मा देह के ममत्व से भी सर्वथा दूर हो जाती है। इस कठोर तपस्या के माध्यम से आत्म-विकास की उस अन्तिम अवस्था को प्राप्त करने के बाद परमात्म दर्शन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आत्म-दर्शन से परमात्म दर्शन तक की यात्रा की सम्पन्नता आत्म-विसर्जन के महाद्वार में से होकर गुजरने के बाद ही होती है। यह यात्रा गहन एवं उच्च चिन्तन पर चलती है और कभी-कभी विचार श्रेणी इतनी ऊँची एवं समुन्नत हो जाती है कि युगों और वर्षों का मार्ग कुछ पलों में ही तय हो जाता है। समता-साधना की सफलता के लिए साधक को आत्म-विसर्जन रूप उच्चस्थ विचार-श्रेणियों में आरूढ़ होने का प्रयत्न करना चाहिए।

(4) परमात्म दर्शन – आत्मा ही परमात्मा होती है तथा आत्मा ही परमात्मा बनती है। आत्मा और उसकी परम अवस्था में जो अन्तर है, वह उसकी कर्मबद्धता का अन्तर है। इस अन्तर को मिटाने अर्थात् कर्मावरणों को अपने ज्योतिस्वरूप पर से हटाने के बाद यही आत्मा ज्योतिस्वरूप परमात्मा बन जाती है। परमात्म दर्शन का यही सारपूर्ण सिद्धान्त है।

इस दृष्टि से परमात्म दर्शन की मूल प्रेरणा कर्मण्यता है कि आत्मा अपनी कर्मण्यता जगाकर ऐसे कर्म (पुरुषार्थ) करे कि कर्मों के पूर्वसंचित दलिक सम्पूर्णतः नष्ट हो जायें। कोई अन्य शक्ति इस आत्मा का उद्धार करेगी-ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही स्वयं को सजग बनाकर अपना उद्धार करेगी और वैसा उद्धार उसकी अपनी ही कर्मण्य शक्ति पर आधारित होगा। कोई भी विकास या विकास का चरम बिंदु इस आत्म-शक्ति की पहुँच के बाहर का नहीं होता है। वस्तुतः आत्म-शक्ति के शब्दकोष में असंभव शब्द होता ही नहीं है। इस दृष्टिकोण से मानव-जीवन में सत्साहस की वृत्ति अपार महत्व

रखती है। कायरता के लिए सब कुछ असंभव है और साहस के लिए सब कुछ संभव। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य जब तक संज्ञाशून्य होकर पतन के गड्ढे में गिरा रहता है, तब तक उसके जीवन के सभी पहलू और उसकी सभी शक्तियाँ विषम बनकर विकास की अवरोधक के रूप में अड़ी रहती हैं। विषमता की अवस्था में अधिकाधिक विकारों का आक्रमण होता रहता है और आत्म-शक्ति उनसे परास्त होकर हताशा में डूबी रहती है, किन्तु जिस क्षण कायरता दूर होकर सत्साहस का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी क्षण विकास के चरण गतिमान हो जाते हैं।

आत्मा का ऐसा सत्साहस कैसे प्रकट हो ? कहते हैं कि चोर कायर होता है, क्योंकि उसके पैर कच्चे होते हैं। यदि अपने भीतर कायरता महसूस करते हैं, तो सोचना होगा कि अपने भीतर किन-किन रूपों में चौर्य-वृत्तियाँ अपनी दुष्ट-प्रवृत्तियों में लगी हुई हैं और उनके कारण अपनी आत्म-शक्ति के पैर कहाँ-कहाँ कच्चे पड़े हुए हैं ? यह अपनी ही आत्मा की आलोचना का विषय है और अपने ही जागरण का प्रश्न है। जो काम छिपकर करने की इच्छा होती है, जिन विचारों को सहजतापूर्वक प्रकट नहीं किया जा सकता हो अथवा जिन शब्दों को निर्भयता से बोलने की क्षमता न हो, तो समझना चाहिए कि मन, वाणी और कर्म के उन क्षेत्रों में चौर्य-वृत्ति कार्य कर रही है, जिसके कारण आत्म-शक्ति के पैर कच्चे पड़े हुए हैं। तब उस कचावट को एक-एक करके दूर करने की जरूरत पड़ती है। विकास की दृढ़ इच्छा-शक्ति के साथ जब सत्साहस का पुट लग जाता है, तो उस कायरता को फिर दूर करने में देर नहीं लगती। अतः परमात्म दर्शन सिखाता है कि पग-पग पर पैदा होनेवाली अपनी ही दुर्बलताओं के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से ही समूचा जीवन-क्रम चलना चाहिए। समता के सिद्धान्त -दर्शन, जीवन-दर्शन तथा आत्म-दर्शन की अनुभूति के पश्चात् परमात्म-दर्शन की ओर सहजता से प्रगति की जा सकती है तथा इसी आत्मा को परमात्म-स्वरूप में ढाल सकते हैं। एक शब्द में इस सत्साहस को परिभाषित करें, तो वह यह होगा कि

यह सत्साहस आत्म-स्वरूप में पर से विषमता के अन्तिम अंश तक को मिटा डाले और उसे पूर्ण समता की उज्ज्वलता से विभूषित हो दे।

परमात्म पद की दार्शनिक-भूमिका को भली प्रकार से समझ लेना चाहिए। आत्मा को अपनी ही विषमता पर प्रहार प्रारंभ करने होते हैं, जो अपने कर्मबंध को समाप्त करने के रूप में होते हैं। कर्म ज्यों-ज्यों क्षीण होते जाते हैं, आत्मा में रही हुई विषमता भी त्यों-त्यों क्षीण होती जाती है तथा आत्मा अपने मूल गुणों को अवाप्त करती रहती है। गुणों के स्थानों में तब उसकी ऊर्ध्वगामिता आरंभ होती है और गणस्थानों की यात्रा को जब वह आत्मा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेती है, तो अपने मूल गुणों को प्रकाशमान बनाकर परमात्म पद की अधिकारिणी बन जाती है।

यह दृश्यमान जगत जीव और अजीव इन दो तत्वों के संयोग — श्रम पर निर्मित हुआ है। यह जीव तत्व भी यहाँ स्वतंत्र नहीं है — अजीव तत्व के साथ अपने कर्म-बंधनों के कारण बंधा हुआ है। जीव और अजीव के संयोग से ही समस्त जीवधारी दिखायी देते हैं और अजीव के बंधन से ही वे अजीव तत्वों के प्रति मोहाविष्ट होते हैं। यह मोह चाहे अपने या दूसरे के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति, सत्ता या अन्य पदार्थों व परिस्थितियों के प्रति — उसकी रागात्मक वृत्तियाँ ही जीव को विषय, कषाय तथा प्रमाद में भ्रमित बनाये रखती हैं। इसी दशा में राग और द्वेष के घात प्रतिघात चलते हैं और जीव उन प्रकृतियों के वशीभूत होकर विविध शुभाशुभ कर्म करते हुए उनके फलाफल से भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं। जीव-अजीव तत्वों के साथ इस तरह बंध तत्व जुड़ा है, जो पतन का प्रतीक है। जीव का सर्वोच्च विकास का प्रतीक है मोक्ष तत्व, जिसकी साधना में वह कर्म बंध रूप आश्रय तत्व को रोकता है संवर तत्व की सहायता से। फिर सम्पूर्ण कर्म-विनाशक रूप होता है निर्जरा तत्व, जिसकी सिद्धि से मोक्ष तत्व अवाप्त होता है। कर्म बंध के दो शुभाशुभ रूप होते हैं पुण्य तत्व तथा पाप तत्व। पाप तत्व को मिटाने से पुण्य तत्व बलवान बनता है, जो मोक्षतत्व को मिलाने में सहायता करता है, लेकिन मोक्ष तत्व की अवाप्ति पर पुण्य तत्व भी छूट जाता है यानि कि अजीव तत्व का जीव

तत्त्व से संयोग सम्पूर्णतः समाप्त हो जाता है। जीव तत्त्व सम्पूर्णतः अजीव तत्त्व (कर्म) से मुक्त हो जाये—यही उसका मोक्ष है। जीव की ईश्वर में इसी रूप से परिणति होती है।

समता का व्यवहार्य पक्ष

किसी वस्तु स्वरूप का ज्ञान होना अपेक्षतया सरल है, किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है तथा उससे अधिक कठिन है उस सम्यक् ज्ञान को अडिग रूप से व्यवहार में उतारना तथा अपने जीवन के समस्त आचरण को तदनुसार ढाल लेना। व्यवहार के मार्ग में ऐसे— ऐसे थपेड़े आते हैं कि कई बार अच्छे—अच्छे साधक भी चलायमान हो जाते हैं। यह व्यक्तिगत जीवन की बात है। लेकिन सामाजिक जीवन में भी ऐसे थपेड़े कभी इतने प्रबलतम होते हैं, जो सारी सामाजिक व्यवस्था को अस्त—व्यस्त करके व्यक्ति—व्यक्ति के सामान्य जीवन को भी दुःखपूर्ण बना देते हैं। समता के व्यवहार्य पक्ष में भी व्यक्ति और समाज के जीवन—क्षेत्रों में ऐसी कठिनता आये—यह अनहोनी बात नहीं है।

समतामय जीवन को व्यवहार रूप में अपनाने के बीच में भी व्यक्तिगत एवं समाजगत बाधाओं का पार नहीं रहता। समाज में जिस वर्ग के स्वार्थ किसी भी रूप में निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अंधेपन में सदैव विषमता का पक्षधर बनकर समता का विरोध करने लगता है। तब उसके हृदय परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होती है। इसलिए जहाँ समता के व्यवहार्य पक्ष पर विचार करना होता है, वहाँ गहराई से यह खोजना जरूरी है कि व्यवहार्य पक्ष की मूल कमजोरियाँ कौन—कौन सी हैं और उनके विरुद्ध किन—किन उपायों से संघर्ष किया जा सकता है एवं व्यवहार्य पक्ष को व्यक्ति एवं समाज—दोनों के आधारों पर सुदृढ़ बनाया जा सकता है ?

समता के व्यवहार्य पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रत्येक आत्मा में रही हुई स्वहित की संज्ञा एवं उसकी उचितानुचित विकास प्रक्रिया को समझ लेना चाहिए। बच्चा गर्भाशय से बाहर आते ही चाहे और कुछ समझे या न समझे, वह अपनी भूख को तो तुरन्त समझ लेता है और जब भी भूख से पीड़ित होता है, वह स्तन पान के लिए मुँह फाड़—फाड़कर रोना शुरू कर देता है। यह बात मानव शिशु के साथ

ही नहीं है, छोटे-से-छोटे जन्तु में भी स्व-हित की या स्व-रक्षा की संज्ञा होती है। जहाँ चींटियाँ चल रही हों, वहाँ जब कोई राख बिखेर देता है, तो चींटियाँ उसे अपने लिए खतरा मानकर बचाव के लिए वहाँ से तुरन्त खिसक जाती हैं। आशय यह है कि छोटे-बड़े प्रत्येक जीव में आरंभ से ही स्वहित एवं स्वरक्षा की जागृत चेतना रहती है। स्वहित की इस आरंभिक संज्ञा का विकास निम्न रूप में तीन प्रकार से हो सकता है, जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा—(1) पहला प्रकार यह हो सकता है कि यह स्वहित की संज्ञा एकांगी एवं जटिल बनकर कुटिल स्वार्थ के रूप में ढल जाये कि मनुष्य को उसके आगे और कुछ भला-बुरा सूझे ही नहीं। अपना स्वार्थ है, तो सब है और वह नहीं तो अपना कोई नहीं—दूसरों के हित की तरफ दृष्टि तक न मुड़े। ऐसी प्रकृति उसके अपने जीवन और अपने संसर्गगत सामाजिक वातावरण में गहन विषमता को जन्म देती है और समता की जड़ों को मूल से ही काटती है। (2) स्वहित-परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक रूप में समन्वय का प्रकार हो सकता कि अपना हित भी आदमी देखे, किन्तु उसी लगन से दूसरों के हित के लिए भी वह तत्पर रहे। अपने व दूसरों के हितों का वह इतना सन्तुलन बना दे कि कहीं दोनों के बीच टकराव का मौका नहीं आये। साधारण रूप से समाज में समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा होगी।

(3) तीसरा ऊँचे त्यागियों और महापुरुषों का प्रकार हो सकता है, जो परहित के लिए स्वहित का भी बलिदान कर देते हैं। ऐसे बलिदानी सर्वस्व-त्याग की ऊँची सीमाओं तक भी पहुँच जाते हैं। सच कहें तो विश्व को समता की दिशा-दान ऐसे महापुरुष ही किया करते हैं। उन के त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट अवस्था प्रकाशित होती है।

वातावरण के तदनुकूल निर्माण पर यह निर्भर करता है कि स्वहित की आरंभिक संज्ञा रूढ़ एवं भ्रष्ट हो जाये अथवा जागृति और उन्नति की दिशा में मुड़ जाये। प्रत्येक जीवधारी में स्वरक्षा की संज्ञा हो-यह अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु स्वाभाविक यह होगा कि सबकी स्वरक्षा की संज्ञा को सचेतन बनाया जाये कि कोई भी किसी की इस

संज्ञा पर प्रहार न करे या न कर सके। सर्वहित के इस प्रयास के बीच आनेवाली बाधाओं को समझना, उनके कारणों को दूर करना तथा उनको जीतकर स्वहित को सर्वहित के समत्व भाव से रंग देना — यही समता का सजग एवं सफल व्यवहार्य पक्ष हो सकता है।

विषमता से समता में परिवर्तन अपनी अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है, किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा में समाया हुआ रहता है। कोई भी परिवर्तन बिना क्रियाशीलता के नहीं आ सकता। बिच्छु काटे की दवा कोई जानता है, लेकिन बिच्छु के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय उस जानकारी पर ही घमंड करता रहे या उसे ही दोहराता रहे तो क्या बिच्छु का जहर उतर जायेगा ? यही विषमता का हाल होता है। विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया, किन्तु उस ज्ञान के अनुसार अपने आचरण को नहीं ढाला, तो क्या विषमता मिट जायेगी ? विषमता मिटाने के लिए उस ज्ञान के निषेध और विधि—ये दोनों रूप आचरण में उतरने चाहिए। ज्यों—ज्यों निषेध रूप से विकारों की विषमता घटती जायेगी, त्यों—त्यों विधि रूप से समता की अमिय—वर्षा गहराती जायेगी।

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू और रूप हो सकते हैं, परन्तु सारे तत्वों और समस्त परिस्थितियों को समन्वित करके उसके सारे रूप में निम्न इक्कीस आचरण सूत्रों की रचना की गयी है, जिन पर यदि मनुष्य अमल करके अपने भीतर और बाहर को सुधारे व बदले, तो समता की गहन साधना भी आरंभ की जा सकती है तथा बाह्य विस्तृत वातावरण में भी समताभरा तालमेल बिठाया जा सकता है —

(1) हिंसा का परित्याग — हिंसा के आंशिक त्यागी श्रावक को अनावश्यक हिंसा का परित्याग करना चाहिए तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था में भी भावना तो प्राणी रक्षा की रखनी चाहिए, लेकिन विवशता से होनेवाली हिंसा में लाचारी अनुभव की जानी चाहिए, न कि प्रसन्नता। साध्याचार में तो हिंसा का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। समता—साधना के प्रारंभ में स्थूल रूप हिंसा का तो परित्याग कर ही देना चाहिए कि वह अपने हित के लिए परहित पर किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचायेगा। सन्तुलन के इस बिन्दु से जब साधना

आरंभ की जायेगी, तो स्वार्थी का संघर्ष अवश्य कम होता जायेगा। स्वहित की रक्षा में यदि उसे आवश्यक हिंसा करनी भी पड़ी, तो वह उसका आचरण अति खेदपूर्वक ही करेगा, जिसका विकास इस रूप में होगा कि आगे जाकर वह परहित के लिए स्वहित का त्याग करने की शुभ भावना का निर्माण कर लेगा। यही विकास जब और आगे बढ़ेगा, तब वह पूर्ण अहिंसक व्रत अंगीकार कर सकेगा।

(2) मिथ्याचार—मुक्ति — कहावत है कि एक झूठ बोलकर उसे टिकाये रखने के लिए सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। इसी झूठ पर यह मिथ्याचार पनपता है, जो केवल वचन तक ही सीमित नहीं रहता। कथनी को मिथ्या बनाकर करनी को वह मिथ्याचारी बनाता रहता है। जितना मिथ्याचार, उतनी ही अधिक विषमता। इस कारण विषमता से मुक्ति पाने के लिए मिथ्याचार से मुक्ति अनिवार्य है। मिथ्याचार त्याग कर ही विषमता के विविध रूपों से सफल संघर्ष किया जा सकता है और समता भावना के विस्तार में सत्याचरण एवं सदाचार के बल पर रचनात्मक सहयोग दिया जा सकता है।

(3) चौर्य कर्म से छुटकारा — ताला तोड़कर चाबी लगाकर या संध लगाकर वस्तु की चोरी करने की कला आज के अर्थ—युग में बहुत ही जटिल और व्यापक हो गयी है। वस्तु चुराने की बजाय आज मनुष्यता चुरायी जाती है, उस का श्रम चुराया जाता है और शोषण की चौड़ी खाइयाँ खोद दी जाती हैं। चौर्यकर्म से छुटकारा पाने के लिए स्वार्थाधता और तृष्णाग्रस्तता से दूर हटना पड़ेगा तथा अपने जीवन—निर्वाह को इस सीमित स्तर तक सादा बनाना होगा, जहाँ हिंसा, चोरी या अनीति का तनिक भी आश्रय न लेना पड़े।

(4) ब्रह्मचर्य का मार्ग — वासनाओं पर विजय पाने के अनुक्रम में शारीरिक ब्रह्मचर्य के साथ वासनाओं की मानसिकता पर भी नियंत्रण साधना होता है। एक व्यक्ति के जीवन में फले—फूले सदाचार से चारों ओर के वातावरण में भी चारित्र—शुद्धि की एक नयी हवा बहेगी। ब्रह्मचर्य का पालन सब ओर से संयम वृत्ति को बलवती बनायेगा, तो संयम के संबल से समता के विकास को प्रशस्त भी करेगा। विषय वासनाओं की आसक्ति के घटने और मिटने से योग व्यापार की त्रिधारा में शुद्धि व शुभता का संचार होगा।

(5) तृष्णा पर अंकुश – मनुष्य का अपने स्वार्थों तथा अपनी तृष्णा पर अंकुश लगाना बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह अंकुश ही उसके मन की मूर्छा को दूर करके उसे अपरिग्रही तथा अपरिग्रहवादी बनाता है। अपनी अल्पतम आवश्यकताओं के अनुसार तथा अपनी नीति व अपने श्रम से यदि धनार्जन की व्यवस्था ढल जाये, तो अर्थ का भूत अधिकांश रूप से माथे से उतर जायेगा। तब अनावश्यक संग्रह का चक्कर भी खत्म हो जायेगा। उसका स्वार्थ जब सीमा से बाहर नहीं निकलेगा, तो वह घातक भी नहीं बनेगा। अतः समता-साधक तृष्णा पर कठोर अंकुश लगाते हुए अपने धंधे का फैलाव इतना ही करे, जिससे नीति भी नहीं छूटे और सम्पत्ति का मोह भी नहीं जागे।

(6) निष्कलंक चारित्र – समता की साधना करनेवाले साधक को कभी भी ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिससे उसके चारित्र पर कलंक लगे। व्यक्ति यदि अपनी आवश्यकताओं को सीमा में रखकर चले, तो वह कभी भी ऐसे कार्यों में नहीं उलझेगा, जो स्वयं, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र के चारित्र पर किसी भी रूप में कलंक की कालिमा पोते। उसे अपने आचरण को भी नियमित एवं संयमित रखना चाहिए।

(7) अधिकारों का सदुपयोग – समता-साधक को अपना यह कर्तव्य मानना चाहिए कि वह अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग कतई नहीं करे, बल्कि उनका सर्वत्र व्यापक जन कल्याण के हित में निष्ठापूर्वक सदुपयोग करें। समाज या राष्ट्र में अपनी योग्यता, कार्य-कुशलता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बड़े पदों पर पहुँचते हैं, जहाँ उनके हाथ में अपने पद के अनुसार अधिकारों का वर्चस्व आता है। उन अधिकारों का प्रयोग अपने स्वार्थों या अन्य विषम उद्देश्यों के लिए कभी भी नहीं किया जाना चाहिए। उन अधिकारों के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका प्रयोग नियमानुसार तथा सार्वजनिक लाभ के लिए किया जाये।

(8) अनासक्त भाव – सत्ता या सम्पत्ति में आसक्ति रखने से उन पर तृष्णा भड़कती है और उनके संचय की मूर्छा पैदा होती है। इसलिए समता-साधक को सदा अनासक्त-भाव का अभ्यास करना

चाहिए। ऐसा करने से प्राप्त सत्ता या सम्पत्ति के दुरुपयोग की मनोवृत्ति नहीं बनेगी तथा कर्तव्यपालन के प्रति जागरुकता निरन्तर बनी रहेगी।

(9) सेवा की मनोवृत्ति – एक समता-साधक अपने को प्राप्त सम्पत्ति एवं सत्ता को मानव-सेवा और प्राणी-सेवा का साधन मानता है। उसकी सेवा की मनोवृत्ति इस रूप में विकसित हो जाती है कि प्राप्त सम्पत्ति और सत्ता के प्रति उसका तनिक भी ममत्व नहीं रहता, बल्कि उसे वह सेवा के कार्यों में समता-भाव से नियोजित कर देता है। वह इनका संचय भी अपने पास नहीं बढ़ाता और अधिकांश रूप से अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने लिए आवश्यक साधनों को भी अपने से ज्यादा आवश्यकतावालों को हर्षपूर्वक वितरित कर देता है। अनासक्त भाव की भूमिका पर निर्मित उसकी सेवा की मनोवृत्ति अटूट बन जाती है।

(10) सरल व्यक्तित्व – समता का साधक एक ओर व्यक्ति व समाज की विकारपूर्ण विषमता से संघर्ष करता है और क्रान्ति द्वारा मानवीय-मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है, तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल और विनम्र बनाये रखता है। सादगी, सरलता तथा विनम्रता में विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना में सक्रिय बने रहना – इसे वह अपना पवित्र कर्तव्य मानता है, ताकि अपने सरल व्यक्तित्व से समतामय सरलता का प्रसार हो।

(11) स्वाध्याय और चिन्तन – मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य में प्रवृत्ति करता रहता है। अतः उसे उसी समय न तो अपने काम की उचितता या अनुचितता का निर्णय निकालने का अवसर मिलता है और न ही उसके परिणामों का विश्लेषण करने की सुविधा। ये दोनों कार्य नियमित स्वाध्याय एवं चिन्तन की प्रवृत्तियों से ही पूरे किये जा सकते हैं। स्वाध्याय से यह ज्ञान और भाव मिलेगा कि किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ शुभ और उपादेय होती हैं तथा किन अशुभ प्रवृत्तियों में मनुष्य को प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। चिन्तन की धारा में प्रवृत्तियों की शुभताशुभता का अंकन भी हो सकेगा, तो प्रवृत्तियों के परिणामों पर भी दृष्टिपात करके अपनी भावी-प्रवृत्तियों की रूपरेखा निर्धारित की जा सकेगी।

(12) कुरीतियों का त्याग – जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से कुरीतियाँ वे ही होती हैं या कहलाती हैं, जो किसी न किसी रूप में विषमता पैदा करती हैं। रूढ़ परम्पराओं या कुरीतियों का निर्वाह दंभी और निहित स्वार्थी इसलिए करते हैं कि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन में वे अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखते हैं। सामान्य जन के लिए कुरीतियाँ सद्गुणों और श्रेष्ठता का ह्रास करनेवाली होती हैं। इस कारण समता-साधक को स्वयं कुरीतियों का त्याग करना चाहिए तथा जीवन में इनके प्रचलन को रोकने का कठिन प्रयास भी जुटाना चाहिए।

(13) नैतिकता का पालन – चाहे कोई भी व्यवसाय या व्यापार हो अथवा सेवा वृत्ति या अन्य कार्य – उसमें समता-साधक को सदा शुद्ध नीति यानि नैतिकता का पालन करना चाहिए। व्यापार को जब सीधा और सच्चा नहीं रखा जाता-उसमें कपट और मायाचार का पुट मिला दिया जाता है, तब शोषण और लूट का व्यवहार बन जाता है। जहाँ अपने श्रम के रूप में लाभांश होना चाहिए, वहाँ आज के व्यवसाय और व्यापार में लाभ लूट का पर्याय बन गया है, जो कतई अनीतिपूर्ण कहलायेगा। इस दृष्टि से अपनी अर्जक-वृत्ति में नैतिकता का निर्वाह किया ही जाना चाहिए, जिसके बिना समता का विस्तार संभव नहीं होता।

(14) यथायोग्य सम वितरण – समता-साधक अपने पास आवश्यकता से अधिक धन, धान्य अथवा अन्य पदार्थ न रखे तथा उन्हें यथायोग्य सम-वितरण हेतु समाज या राष्ट्र को सौंप दें अथवा स्वयं जन-कल्याण में नियोजित कर दें। आवश्यकताओं का भी जहाँ तक प्रश्न है, वे एक समता-साधक की निरन्तर घटती रहनी चाहिए और जीवन निर्वाह में अधिकाधिक सादगी आती रहनी चाहिए। इस विधि से धन-सम्पत्ति के प्रति कभी ममत्व पैदा नहीं होगा। जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है, वह होता है धन-सम्पत्ति रूप परिग्रह और उससे भी अधिक विषम होती है परिग्रह की लालसा। अतः आवश्यकता तक परिग्रह को सीमित कर लेने से उसके प्रति ममत्व नहीं जागता। इस दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार एक समता-साधक समुचित परिग्रह अपने पास रखे और उसे भी पूर्वनिश्चित मर्यादाओं की अपेक्षा से, ताकि बाकी को न्यास समझा जा सके तथा यथायोग्य रीति से जन कल्याण में उसका सम वितरण कर दे।

(15) आध्यात्मिकता का रंग – नैतिक एवं मर्यादित जीवन विधि से समता-साधक अवश्य ही अन्तर्मुखी बनता जायेगा और अन्तरावलोकन का अभ्यास करेगा। इस दृष्टा भाव का सुपरिणाम यह होगा कि वह आध्यात्मिकता के आनन्द रंग में अपने आपको रंगता जायेगा। आभ्यन्तर शुद्धि उसका प्रधान लक्ष्य बन जायेगा और उसके साथ ही वह आभ्यन्तर शुद्धि का पुरुषार्थ सब में जगाना चाहेगा। आध्यात्मिकता के रंग में अपना अन्दर-बाहर का जीवन व्यवहार निर्मल बनाकर वह सभी को उस ओर प्रभावित करेगा। जब अपनी अर्जन-प्रणाली, दिनचर्या तथा व्यवहार की पूरी परिपाटी नैतिकता के आधार पर ढल जायेगी, तो उस हृदय से उत्पन्न आध्यात्मिकता ओजस्वी होगी।

(16) सुधार का अहिंसक प्रयोग – आत्मिक एवं सामाजिक अनुशासन तथा संयम की मर्यादाओं को भंग करनेवाले लोगों को एक समता-साधक अहिंसक असहयोग के प्रयोग से सुधारना चाहेगा। उसमें लेश-मात्र भी उस प्रयोग के समय द्वेष की भावना नहीं होगी। उसका अहिंसक असहयोग एक अच्छे चिकित्सक के समान शुद्ध हिताकांक्षा की दृष्टि से होगा। समता की साधना से वह अहिंसा को ऐसे सशक्त शस्त्र के रूप में तैयार करेगा कि व्यापक क्षेत्र में भी द्वेष एवं प्रतिशोध से रहित होकर उसका सुधार की दृष्टि से सफल प्रयोग किया जा सके। 'घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश'— के अहिंसक सिद्धान्त के अनुरूप ही समता-साधक सभी प्रकार के सुधार कार्यक्रमों का संचालन करेगा।

(17) गुण कर्म से वर्गीकरण – एक समता-साधक प्रचलित वर्ण, वर्ग या सम्प्रदाय में अपना विश्वास नहीं रखेगा और व्यक्ति का अंकन उसके गुण और कर्म के अनुसार करेगा। इतना ही नहीं, वह समाज में भी गुण एवं कर्म के आधार पर वर्गीकरण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण से विभिन्न वर्णों, वर्गों या सम्प्रदायों में व्याप्त कटुता तथा विषमता समाप्त होती जायेगी तथा उसके स्थान पर मानवीय समता प्रसारित होगी। गुणाधारित वर्गीकरण से गुणों की अभिवृद्धि की ऐसी स्वस्थ होड़ चल निकलेगी कि मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए गुण-सम्पन्नता को

मुख्य मान लेगा।

(18) भावात्मक एकता-सम्पूर्ण मानव-जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए एक समता-साधक समाज या राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देगा तथा ऐसी एकता के लिए मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता को प्रोत्साहित करेगा। इस प्रयोग से मनुष्यता को शक्ति मिलेगी तथा जीवन में जड़-तत्वों का प्रभुत्व घटेगा। ऐसी एकता केवल बाह्य रूपों में ही नहीं अटक जानी चाहिए, बल्कि अनुभावों, उद्देश्यों तथा आदर्शों की एकता के रूप में वह निरन्तर विकसित होती रहनी चाहिए। समता-साधक को अपने अंतःकरण में हो अथवा समाज या राष्ट्र के विशाल अंतर्हृदय में-ऐसी भावात्मक एकता को स्थिरतापूर्वक स्थापित करने के प्रयास हमेशा जारी रखने चाहिए, क्योंकि भावात्मक एकता चिरस्थायी एवं शान्ति-प्रदायक होती है तथा सभी स्तरों पर समता के वातावरण को परिपुष्ट बनाती है।

(19) लोकतांत्रिक प्रणाली-एक कथन है कि सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्णतया भ्रष्ट करती है। इस दृष्टि से सत्ता को एक या कुछ हाथों से हटाकर सम्पूर्ण जनता को सौंपने के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही लोकतंत्रीय प्रणाली का विकास हुआ है। यह पारस्परिक नियंत्रण एवं संतुलन की प्रणाली के रूप में शासन को चलाती है, तो समाज की सारी व्यवस्था को लोकेच्छा एवं लोकशक्ति के आधार पर चलाने के आदर्श को सामने रखती है। राष्ट्र या समाज का समग्र संचालन जनता द्वारा, जनता के लिए तथा जनता का होना चाहिए-यह लोकतंत्रीय प्रणाली की अंतःप्रेरणा कही जाती है। सत्ता और सम्पत्ति के निहित स्वार्थी अपने भ्रष्ट एवं विकृत उद्देश्यों के लिए ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने की चेष्टा करते हैं। अतः समता-साधक को ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए तथा समग्र जनता में स्वस्थ चेतना जगानी चाहिए।

(20) ग्राम से विश्वधर्म-प्रत्येक समता-साधक को ग्राम धर्म, नगर धर्म, समाज धर्म, राष्ट्र धर्म एवं विश्व धर्म की निष्ठा के प्रति सतर्क रहना चाहिए एवं उनके अंतर्गत पहले अपने कर्तव्यों एवं नियमों का निर्वाह करना चाहिए, फिर अपने उदाहरण को सामने रखकर दूसरों से उनका अनुपालन करवाने की जागरूकता पैदा करनी चाहिए। ऐसा

जनमत प्रभावी रूप से बनाना चाहिए कि इन धर्मों के निष्ठापूर्वक पालन में कोई किसी तरह की दुर्व्यवस्था पैदा नहीं करे तथा किन्हीं उद्दंड या समाज विरोधी तत्वों द्वारा वैसा करने पर अन्य लोग उनके साथ अहिंसक असहयोग का प्रयोग करें।

(21) समता पर आधारित समाज—एक समता—साधक समता के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्षों के आधार पर निर्मित किये जानेवाले नये समाज की रचना में विश्वास रखे तथा उसके निर्माण में सक्रिय सहयोग प्रदान करे। पहले वह अपने भीतर और बाहर समतापूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का समावेश करे और उसके बाद व्यापक क्षेत्र में रही हुई विषमताओं को समाप्त करने एवं सर्वत्र समतामयी एकरूपता तथा समरसता को संचारित करने में अपना कठोर पुरुषार्थ लगाये। वह अपनी प्रबल प्रेरणा से प्रत्येक व्यक्ति, समूह या संगठन को समता का सशक्त हृदय ग्रहण करने के लिए तत्पर बनाये। इसका अन्तिम लक्ष्य यही होगा कि समता का प्रत्येक मानव—हृदय में शीतल प्रकाश फैल जाये और एक समाज के निर्माण के साथ वह प्रकाश चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण कर ले और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी एवं आगे तक पारम्परिक प्रकाश—स्तंभ बन जाये।

आचरण के इन 21 सूत्रों का दोहरा प्रभाव पड़ेगा। एक ओर व्यक्ति इनके अनुसार अपने जीवन व्यवहार को ढालते हुए अपने आभ्यन्तर और बाह्य जीवन में शुद्धता, शुभता तथा समता की स्थिति को सुस्थिर बनायेगा, तो दूसरी ओर उसकी उस सुस्थिरता का स्वयंमेव भी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और समता—साधक जब अपने आदर्श उदाहरण के साथ समता का प्रबल प्रचारक बनेगा तक उसकी प्रभावशाली शैली से जन—जन के जीवन में नयी समता चेतना का विकास होगा, क्योंकि दूसरों को वास्तविक रीति से प्रभावित करने में शब्दों की अपेक्षा अपना प्रत्यक्ष आचरण हजारगुणा अधिक काम करता है।

समताचरण की तीन चरण

साधुत्व की पूर्व स्थिति में समता की साधना करनेवाले साधक के लिए अपनी साधना के यथोचित विकास की दृष्टि से तीन चरण

स्थापित किये गये हैं, जिनके अनुसार साधक को पहले समता की उपादेयता में स्वयं की प्रतीति स्पष्ट हो, फिर वह समता की अपनी सुस्पष्ट धारणा को क्रियान्वित करे तथा तदनन्तर अपनी समदृष्टि का उच्चतम विकास साधते हुए समतादर्शी बन जाये। सम्यक् प्रतीति तथा वास्तविक पहिचान के पहले चरण के साथ ही साधक के अन्तःकरण में समुन्नति के लिए तीव्र आकांक्षा तथा कठोर पुरुषार्थ की भावना जाग जानी चाहिए। इन्हीं के आधार पर वह द्वितीय चरण की सुदीर्घ साधना की कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा एवं तीसरे चरण की सिद्धि के विराट क्षेत्र में प्रवृष्टि हो सकेगा।

इस रूप में समताचरण के तीन चरण निम्नानुसार होंगे—

(1) समतावादी—पहली और प्रारंभिक श्रेणी उन समता-साधकों की हो, जो समता-दर्शन में गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा तथा अपनी परिस्थितियों की सुविधा से समता के आचरण में सचेष्टा ग्रहण करने की हार्दिक अभिलाषा रखते हों। इस श्रेणीवालों को 'वादी' इस कारण कहा गया है कि वे समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का सर्वत्र समर्थन एवं प्रचार करते हों एवं सबके समक्ष समताचरण की श्रेष्ठता को जानने, मानने तथा तदनुसार अपने-अपने व्यवहार को ढालने का सदाशयपूर्ण आग्रह करते हों। स्वयं भी आचरण के क्षेत्र में अग्रगामी बनने की तैयारी करते हों एवं दूसरों को भी उसके लिए तैयार होने की प्रेरणा देते हों। यह नहीं कि एक समतावादी सिर्फ समता का वाद ही करेगा और समताचरण को स्वीकार किन्हीं भी अंशों में नहीं करेगा। वह समता का वाद करते हुए आचरण के क्षेत्र में भी पग धर देगा, लेकिन अपनी परिस्थितियों की विवशता से आचरण की उग्रता का पालन नहीं कर सकेगा। उसके हृदय में समताचरण को पूर्णता प्रदान करने की तीव्र अभिलाषा में कोई न्यूनता नहीं होगी।

समतावादी श्रेणी के साधकों के लिए निम्न नियम आचरणीय हो सकते हैं—(अ) विश्व में रहनेवाले समस्त प्राणियों में मूल स्थिति को स्वीकार करना तथा गुण व कर्म के अनुसार उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदों तथा विषमताओं को अस्वीकार करना और गुण कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थितियों के निर्माण का संकल्प

स्वीकार करना। (ब) समस्त प्राणीवर्ग में एकता मानते हुए प्रत्येक के स्वतंत्र अस्तित्व को भी स्वीकारना तथा अन्य प्राणों क कष्ट-क्लेश को स्व-कष्ट के समान मानना। (स) किसी भी पद को महत्व देने के स्थान पर सदा कर्तव्यों को अधिक महत्व देने की प्रतिज्ञा करना। सप्त-कुव्यसनों को धीरे-धीरे ही सही, किन्तु त्यागते रहने की दिशा में आगे बढ़ना। (य) प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घंटा नियमित रूप से समतादर्शन को स्वाध्याय, चिन्तन, आत्मालोचना में व्यतीत करना तथा उस प्रवृत्ति को समीक्षण ध्यान के स्तर तक ले जाना है। (र) कदापि और किन्हीं भी परिस्थितियों में आत्मघात नहीं करने एवं प्राणीघात को बन्दकर उनकी रक्षा करने का संकल्प लेना। (ल) सामाजिक कुरीतियों को त्यागकर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नयी परम्पराएँ ढालना।

(2) समताधारी-समता के दार्शनिक एवं व्यावहारिक धरातल पर सक्रिय बनकर जो दृढ़ चरणों से आरंभ कर दे, उन्हें समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी में लिया जाये। समताधारी साधक समता के चारों दर्शनों-सिद्धांत, जीवन, आत्म एवं परमात्म को हृदयंगम करके व्यवहार के इक्कीस सूत्रों के आचरण-पथ पर रचनात्मक प्रगति प्रारंभ कर देता है और निरन्तर प्रगतिशील रहता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वांगीणता एवं सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे, तो उसे समताधारी कहा जाये।

समताधारी साधकों की इस श्रेणी का विशिष्ट महत्व माना जाये, क्योंकि ये साधक ही वास्तव में जनता की आँखों में समता की मशाल चमकाकर चलनेवाले साधक होंगे, इन्हें और इनके आचरण को प्रत्यक्ष देखकर ही दूसरे लोग इनके प्रति तथा समता के प्रति प्रभावित बनेंगे। इस श्रेणी के साधकों का इस दृष्टि से दायित्व भी गंभीर होगा, क्योंकि उनकी छोटी-छोटी असावधानियाँ या भूलें भी समता के लक्ष्य को दुर्बल बना सकती हैं और जनता की नजरों में उसके प्रति प्रभाव को कम कर सकती हैं। अतः समताधारी निम्न अग्रगामी नियमों का अनुपालन करें—(अ) विषमताजन्य अपने विचारों, संस्कारों एवं आचारों को स्वयं समझना तथा उन्हें विवेकपूर्वक दूर करना। अपने आचरण से किसी भी प्राणी या उसके किसी भी प्राण को क्लेश नहीं पहुँचाना तथा सबके साथ

सहानुभूति रखना। (ब) धन, सम्पत्ति तथा सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एवं कर्तव्यनिष्ठा को मुख्यता देना। (स) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं अनेकांतवाद के स्थूल नियमों का पालन करना, उनकी मर्यादाओं में उच्चता प्राप्त करना तथा भावना की सूक्ष्मता तक गहरे पैठने के साथ वैचारिक प्रयास करते रहना। (द) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के समवितरण में आस्था रखना एवं व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथा-विकास, यथा-योग्य जनकल्याणार्थ अपने पास से परित्याग करना। (य) परिवार की सदस्यता को लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एवं विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि तथा सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वों के साथ निभाना। (र) जीवन में जिस किसी पद पर कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त हों, वहाँ भ्रष्टाचार से मुक्त रहकर समताभरी नैतिकता एवं प्रमाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना। (ल) स्व-व्यक्तिगत जीवन में संयम को, तो सामाजिक जीवन में सर्वदा नियमों को प्राथमिकता देना एवं अनुशासन को प्रतिष्ठित बनाना।

(3) समतादर्शी-समतादर्शी की श्रेणी में साधक का प्रवेश तब माना जाये, जब वह समता के लिए बोलने और धरने से आगे बढ़कर संसार, राष्ट्र व समाज को समतापूर्ण बनाने व देखने की क्षमता प्राप्त करने लगे-दृष्टित्व को कृतित्व के साथ जोड़ने लगे। तब वैसा साधक अपने व्यक्तिगत व्यक्तित्व से ऊपर उठकर स्वयं एक समाज, संगठन, संस्था या आंदोलन का रूप ले लेता है, क्योंकि तब उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन में समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुँच जाता है, जहाँ वह स्वहित को भी परहित में विलीन कर देता है तथा सम्पूर्ण समाज में सर्वत्र समता लाने के लिए जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बने रहने की बजाय समता का वाहक बन जाता है।

एक समतादर्शी साधक इन उच्चस्थ नियमों को अपने जीवन में रमा लें :- (अ) समस्त प्राणी वर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना तथा आचरना एवं समग्र आत्मीय-शक्तियों के विकास में अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी सामान्य विषमताभरी प्रवृत्तियों को भी त्यागते हुए अपना जीवनादर्श स्थापित करना एवं सब में समता पूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के विकास को बल देना। (ब) आत्मविश्वास की

मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि न अन्य प्राणियों के साथ और न स्वयं के साथ जाने या अनजाने में विश्वासघात की स्थिति पैदा हो। (स) जीवन-क्रम के चौबीसों घंटों में समतामय भावना तथा आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास करना एवं जो कुछ करता रहे, उसकी नित्यप्रति विशुद्ध-भाव से आत्मालोचना भी अवश्य करना। (द) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एवं सहयोग रखते हुए दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना तथा पर-दुःख-निवारण की शुभता में प्रवृत्त रहना। (य) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान में रखकर चाहे राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र में हो अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र में, सदा आत्मबल के आधार पर अन्याय की शक्तियों से संघर्ष करना एवं अहिंसक असहयोग एवं अहिंसामय प्रयोग से सुधार लाने का प्रयास करते हुए समता के समस्त अवरोधों पर विजय प्राप्त करना। (र) चेतन व जड़ तत्वों के पृथक्त्व को समझकर जड़ पदार्थों पर से ममत्व हटाना, सर्वत्र जड़ तत्वों की प्रधानता दूर करने में सक्रिय योगदान करना तथा चेतना को स्व-धर्म मानकर उसकी विकासपूर्ण समता में अपने समग्र जीवन को नियोजित कर देना। (ल) अपने जीवन में और बाहर के वातावरण में राग और द्वेष-दोनों को संयमित करते हुए सर्व-प्राणियों में समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना तथा अपनी चिंतनधारा में उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता की अवाप्ति को जीवन की समस्त उपलब्धियों का सार समझकर उस दिशा में एकनिष्ठा के साथ अग्रसर होते रहना।

समता-साधना की इन तीनों श्रेणियों को इस रूप में देखना और समझना चाहिए कि तीसरी श्रेणी का समुचित विकास साध लेने पर साधुत्व की स्थिति सन्निकट आ जाती है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ धर्म के सर्वोच्च विकास के रूप में देख सकते हैं। ये जो तीनों श्रेणियों के नियम बताये गये हैं, इनके अनुरूप एक से दूसरी तथा दूसरी से तीसरी श्रेणी में आगे बढ़ने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण, विचार एवं विवेकपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ संतुलित एवं संयमित बनाते रहना चाहिए, ताकि समता व्यक्ति के मन में और समाज के जीवन में चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण कर सके। यही आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण का प्रेरक-पाथेय है। समता-साधना के इस क्रम को

व्यवस्थित एवं अनुप्रेरक रूप देने की दृष्टि से एक समता—समाज की स्थापना का निर्णय भी लिया जा सकता है तथा चाहे छोटे पैमाने से ही प्रारंभ किया जाये—उसके नियमोपनियमों का निर्धारण किया जा सकता है। ऐसा समता—समाज सीमित सदस्यों के साथ ही भले प्रारंभ किया जाये, किन्तु उन सदस्यों को गहरे दायित्व—भाव से अपनी प्रवृत्तियों का संचालन करना होगा, क्योंकि वे समूचे समता दर्शन एवं व्यवहार के ज्योतिधारक तथ संदेशवाहक होंगे।

समता—समाज की वैचारिक रूपरेखा

यह सत्य है कि किसी भी तत्व की आन्तरिकता ही मूल में महत्वपूर्ण होती है, किन्तु उसे अधिक प्रभावी, अधिक बोधगम्य तथा अधिक कार्यक्षम बनाने के लिए उसके बाह्य स्वरूप की रचना करनी होती है। अपनी गंभीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है, तो वह प्रेरणा एवं अनुकरण का प्रतीक भी बन जाता है। अन्तःकरण में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ़ हो सकता है, किन्तु जब तक उसे सहज रूप से बाहर प्रकट नहीं करें, उसकी विशेषताओं का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हो सकता। समता दर्शन के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी बाह्य स्वरूप निर्मित कर दिये जायें, तो इसके प्रचार—प्रसार में विशेष सुविधा होगी।

समता दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो, किन्तु यदि ऐसे साधकों को एक सूत्र में बाँधने तथा बाँधे रखकर प्रचार—माध्यमों को सशक्त बनाने के लिए किसी संगठन की रचना की जाये, तो समता—अभियान का एकीकृत रूप बनेगा और साधक भी परस्पर के संपर्क से अभियान को विशेष संबल दे सकेंगे। समता अभियान के ऐसे एकीकृत एवं संगठित स्वरूप से अधिकाधिक जन—समुदाय इसकी तरफ आकर्षित हो सकेगा तथा यथायोग्य रुचि लेना चाहेगा। एक प्रकार से समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का मूर्त रूप ऐसा समता समाज होना चाहिए, जो समता मार्ग पर स्वस्थ एवं स्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर अधिकाधिक लोगों को प्रभावित करें।

समाज में वर्तमान अनेक संगठनों में एक और संगठन की

वृद्धि से क्या लाभ? मानव समाज कई राष्ट्रों में विभक्त होकर इतना विशाल समाज है कि एक ही बार में उसे समग्र रूप से आन्दोलित करना चाहें, तो वह एक कठिनतम कार्य होगा और महान कार्य भी एक साथ नहीं साधा जा सकता। इसी कारण क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ना होता है। समतामय जीवन प्रणाली की स्थापना का कार्य और वह भी आज की विषमतामय परिस्थितियों में अतीव दुरुह कार्य है। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में समता के विचार-बिन्दुओं को हृदयंगम कराने तथा उसके आचरण को व्यापक रूप से अमल में लाने के लिए क्रमबद्ध कार्यक्रम सहित किसी जीवन्त संगठन का होना अत्यावश्यक है। संगठन की जीवन्तता उसके सदस्यों पर निर्भर करेगी, इसलिए समता समाज के सदस्य इच्छा और कर्मठ शक्ति के धनी होने चाहिए। उनका विचार-पक्ष स्पष्ट होना चाहिए, हृदय-पक्ष सत्यशोधक तथा आचरण-पक्ष परम पुरुषार्थी। सदस्यों की कर्मठता पर ही समता-समाज को प्रभावी बनाया जा सकेगा।

समता-समाज के इस रूप में उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं—(1) व्यक्तिगत रूप से समता-साधक को समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी की श्रेणियों में साधनारत बनाना तथा उनके व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की दिशा में उन्हें प्रगति कराना। (2) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की विषमताओं से संघर्ष करना एवं सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना। (3) व्यक्ति और समाज के हितों में ऐसे तालमेल बिठाना, जिससे दोनों पक्ष समतामय स्थिति बनाने में एक दूसरे की पूरक शक्तियाँ बन सकें—समाज व्यक्ति के लिए समतल धरातल बनाये, तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करें। (4) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एवं वितृष्ण को सर्वत्र घटाने का अभियान छोड़कर स्वार्थी तथा विचारों के संघर्षों को रोकना तथा सामाजिक न्याय एवं सत्य को सर्वोपरि महत्व देना। (5) स्थान-स्थान पर समता-साधकों को संगठित करके समाज की शाखाओं-उपशाखाओं की स्थापना करना, सामान्य-जन को समता का महत्व समझाने की दृष्टि से विविध संयत प्रवृत्तियों का संचालन करना एवं सम्पूर्ण समता-उत्क्रान्ति की दिशा में सचेष्ट रहना।

यह समाज किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, वर्ग, जाति या समूह का

नहीं होना चाहिए तथा न ही इसे किसी व्यक्ति विशेष से ही प्रभावित रखा जाना चाहिए। सच कहें तो यह संगठन सभी समता-साधकों का होगा, जो समता के दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षों के विचार तथा आचरण में एकनिष्ठा रखते होंगे एवं संगठन को अपने प्राण-पण से अभिवृद्ध करेंगे। कर्मठ क्रियाशीलता ही संगठन की शक्ति होगी।

समता-समाज के संगठन एवं संचालन का कार्य गृहस्थों के अधीन ही रहे, क्योंकि समता अभियान के प्रसार का मुख्य कार्यक्षेत्र भी तो मूल रूप से सांसारिक क्षेत्र ही होगा। सांसारिक जीवन की विषमताओं के विरुद्ध ही इस संगठन को पहला मोर्चा साधना होगा और वहाँ की सफलता के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कार्य का विस्तार हो सकेगा। यों साधकों की साधना मुख्य रूप से समीक्षण ध्यान पद्धति पर आधारित होगी तथा उनकी व्यक्तिगत जीवन-शैली अधिकाधिक आध्यात्मिक ही होगी। प्रारंभ में तो समता-समाज का अपना विधान हो, जिम्मेदार पदाधिकारी हों तथा अभियान को फँलाते जाने की सुगठ योजना हो। अभियान में ज्यों-ज्यों सफलता मिलती जाये, संगठन के कार्य एवं क्षेत्र का विस्तार होता रहे।

समता-समाज के संगठन के सम्बन्ध में एक तथ्य सदा ध्यान में रखा जाये कि यह संगठन अनेकानेक संगठनों की तरह नगण्य संगठन ही बनकर न रह जाये अथवा समग्र सामाजिक दृष्टिकोण से अलग-थलग न पड़ जाये। समता समाज का प्रारंभ इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिए कि उसका उद्देश्य समूची मानव-जाति में समता स्थापित करना है। आरंभ भले छोटे समुदाय से और छोटे क्षेत्र से हो, किन्तु भावी विस्तार व्यापक क्षेत्र में होना चाहिए। यह विस्तार इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि संगठन सदा व्यापक जनहितों से जुड़ा रहता है और उसके सदस्य विशाल दृष्टिकोण, गहरी आस्था तथा अमित उत्साह से ओतप्रोत बने रहते हैं। किसी भी संगठन को जीवन्त बनाने के लिए उसमें जीवनी-शक्ति लगानी पड़ती है तथा आत्मयोग देना पड़ता है।

समता की जय यात्रा

मशालें कुछ हाथ ही थामते हैं, किन्तु उसकी रोशनी से

अनेकों चेहरों को रोशन बनाते हैं, तो उन चेहरों को रोशनी की आब देकर उन हाथों को भी मशालें उठाने के लिए तैयार कर देते हैं। इसे ही एक बाती से दो, तीन यावत् हजार बातियाँ जलाने की प्रक्रिया कहते हैं। प्रकाश—दान से प्रकाश—विस्तार होता है। उसी तरह समता लेने और समता देने से समता का विस्तार और प्रसार होगा।

समतावादी, समताधारी तथा समतादर्शी के स्थूल—चरणों में समता का स्वरूप विकसित होकर छः काय के रक्षक के रूप में परिणत हो सकेगा और तब तक समीक्षण ध्यान की साधना में परिपक्वता प्राप्त कर लेगा। फिर समीक्षण ध्यान से समता की यात्रा समता की जय—यात्रा के रूप में चलेगी, जो चौदह गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ़ होती हुई समदर्शिता के शिखर तक पहुँच जायेगी। इस जय यात्रा का समापन सिद्धावस्था में शाश्वत आनंद, अव्याबाध सुख एवं अक्षय शान्ति के साथ होगा और यही जय—यात्रा आत्म—विकास की जय यात्रा बन जायेगी जो अनंत काल के लिए आत्मिक जय विजय का रूप ले लेगी।

